एम.एच.डी.-6

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

रीतिकालीन साहित्य

3

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

– इन्दिरा गांधी

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

—Indira Gandhi

इंदिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम.एच.डी-6
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

खंड

3

रीतिकालीन साहित्य

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नामवर सिंह
32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन
ए-20/17, कुतुब एन्क्लेव,
फेज़-1 गुड़गाँव, हरियाणा

प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद

प्रो. मुजीब रिज़वी
220, ज़ाकिर नगर, नई दिल्ली

स्व. प्रो. शिव प्रसाद सिंह
वाराणसी

प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. मैनेज़र पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. प्रेम शंकर
बी-16, सागर विश्वविद्यालय
परिसर सागर

प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

प्रो. शिव कुमार मिश्र
ए-17, मानसरोवर पार्क कालोनी
पंचायती हॉस्पिटल मार्ग
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात

प्रो. सूरजभान सिंह
आई-27, नारायणा विहार
नई दिल्ली

प्रो. लल्लन राय
3, प्रीत विला, समर हिल, शिमला

प्रो. ओम अवस्थी
गुरू नानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर

संकाय सदस्य

प्रो. वी. रा. जगन्नाथन (सेवा निवृत)
प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. रीता रानी पालीवाल
प्रो. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फारुकी
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण

पाठ लेखक
डॉ. रामजी मिश्र
रीडर, ज़ाकिर हुसैन कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

इकाई संख्या
10, 11

संपादक
प्रो. निर्मला जैन
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग
इं.गां.रा.मु.वि.वि.

सामग्री निर्माण

अश्वनी क्रौड़ा
उप कुलसचिव (प्रकाशन)
इग्नू, नई दिल्ली

सी.एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
नई दिल्ली

अप्रैल, 2008 (Reprint)

ISBN-81-266-0180-9

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. रेणु भारद्वाज निदेशक मानविकी विद्यापीठ द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित।
Printed by : TAN Prints (India) Pvt. Ltd., Haryana (India)

खंड परिचय

एम.ए. (हिन्दी) के पाठ्यक्रम-6 का यह तीसरा खंड है। इस खंड में आप रीतिकालीन काव्य की पृष्ठभूमि, आधार और स्वरूप का अध्ययन करेंगे। हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' के नाम से जाना जाता है। भक्ति की अनुराग, निष्ठा एवं भावनात्मक उद्वेग से प्रेरित कविता के बाद का कालखंड रीतिकाल कहलाया। 'रीतिकाल' नाम में 'रीति' शब्द रस, अंलकार, शब्द शक्ति, छंद, नायक-नायिका भेद, आदि सभी का व्यांगों के आधार पर एक बंधी-बंधाई परिपाटी का सूचक है। इस काल में इसी परिपाटी का पालन करते हुए साहित्य रचना की गई - पहले काव्य के लक्षण देना, फिर स्वनिर्मित उदाहरण देना। इस युग के अधिकांश कवियों ने इसी पद्धति पर कविता की रचना की।

हिन्दी भक्तिकाव्य के नवजागरणवादी स्वर को रौंदकर रीतिकाल के जिस समाज में यह साहित्य लिखा गया उसका नेतृत्व सामंतों के हाथ में था। आर्थिक मोह तथा कला संरक्षण ने कवियों और कलाकारों को दरबारी बनाया तो कला और कविता भी दरबारी बनते चले गए। आश्रयदाताओं का मनोविनोद तथा कवियों की अर्थप्राप्ति एक दूसरे के पूरक बन गए। काव्य रचना अब राजाओं एवं सामन्तों की रुचि एवं इच्छा के अनुरूप होने लगी। कवियों ने आश्रयदाताओं को तृप्त एवं प्रसन्न करने के लिए श्रृंगारी रचनाओं का सृजन प्रचुर मात्रा में किया। कवियों से काव्य शिक्षा ग्रहण करना भी राजाओं एवं आश्रयदाताओं की रुचि में शामिल हो गया। इसके फलस्वरूप संस्कृत लक्षणों को ध्यान में रखकर कवि आचार्यत्व धर्म का पालन करते हुए काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण भी करने लगे। ये कवि शिक्षक एवं कवि आचार्य काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, छंद, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, नायक-नायिका भेद आदि विषयों पर काव्य सृजन की ओर प्रवृत्त हुए।

इसी युग में कुछ रीतिइतर काव्य परंपराएँ भी मिलीं। ऐसी काव्य-धाराओं में भक्तिपरक, नीतिपरक, वीरकाव्यपरक, वैद्यक एवं चिकित्सा संबंधी तथा ज्योतिष संबंधी काव्य सृजन भी चलता रहा। परन्तु यह गौण रहा। मुख्य रूप से रीतिकाल में श्रृंगार की प्रवृत्ति ही प्रमुख रही।

यह खंड दो इकाइयों में विभक्त है। प्रथम इकाई (सं10) 'रीतिकालीन काव्य की पृष्ठभूमि और आधार' से संबंधित है। इस इकाई में रीतिकाल की उन राजनीतिक, सामाजिक, दरबारी आदि पृष्ठभूमि की चर्चा की गई है जिसने इस युग के साहित्य को प्रभावित किया। इसके साथ ही रीतिकालीन काव्य के विविध आधारों को भी इस इकाई में स्पष्ट किया गया हैं।

दूसरी इकाई (सं.11) में रीतिकालीन कविता के स्वरूप का विवेचन किया गया है। इस इकाई में रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्य के प्रमुख कवियों एवं उनकी रचनाओं की चर्चा की गई है।

खंड के अन्त में कुछ उपयोगी पुस्तकों के नाम दिए गए हैं जो रीतिकालीन साहित्य के विशेष अध्ययन में आपके लिए सहायक होंगी।

इकाई 10 रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि और आधार

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे;
- रीतिकाव्य की मनोभूमि के पीछे सक्रिय सामाजिक और ऐतिहासिक वास्तविकता को समझ सकेंगे;
- रीतिकाव्य के अंतर्गत विभिन्न अंतर्वर्ती धाराओं के साहित्य की चर्चा कर सकेंगे;
- रीतिकाव्य की प्रवृत्तियों की भी संक्षिप्त जानकारी दे सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

कविता का जन्म सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के बीच होता है। हर युग की परिस्थितियाँ कविता के रूप और अर्थ का गठन करती हैं। परिस्थितियों की भिन्नता के कारण ही कविता का स्वाद भी बदल जाता है। रीति युग की कविता का मिज़ाज़ समझने के लिए आवश्यक है कि हम उस युग की पृष्ठभूमि को समझें। रीति युग की कविता में एक खास प्रकार का सौंदर्य है। यह सौंदर्य जीवन के प्रति ऐहिक दृष्टिकोण के कारण विकसित हुआ है। रीति काव्य में प्रेम और श्रृंगार का विवेचन रीति कवियों के इसी ऐहिकतावादी दृष्टि का परिणाम था। रीति कविता के साथ-साथ इस युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों की चर्चा हम इस इकाई में करेंगे। विभिन्न सांस्कृतिक उपलब्धि और उस युग की कविता के बीच के अंत:सूत्रों को भी इस इकाई में खोजने का प्रयत्न करेंगे।

इस पाठ्यक्रम के खण्ड-3 'भक्तिकालीन साहित्य' में आप तत्कालीन काव्यप्रवृत्तियों का अध्ययन कर चुके हैं। हिंदी साहित्य का रीतिकाल भक्तिकाल के बाद शुरू होता है अत: इस काल-खंड में जिन काव्यप्रवृत्तियों का प्रवर्तन हुआ उन पर पूर्ववर्ती काव्यधाराओं का पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है। भक्तिकाल की कृष्णभक्ति काव्यधारा की रागात्मिका भक्ति ही रीतिकाल में दरबारी वातावरण और फारसी साहित्य के प्रभाव से लौकिक श्रृंगार में परिणत हो गई।

इस इकाई में रीतिकाल की परिवर्तित परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है ताकि रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि और उस पर आधारित काव्य को आसानी से समझा जा सके।

10.2 रीतिकाल का नामकरण और सीमा निर्धारण

साहित्य में कोई भी नामकरण प्रवृत्ति-निरपेक्ष नहीं हो सकता। पूर्व मध्यकाल में भक्ति की प्रवृत्ति प्रमुख थी और उत्तर मध्य काल में श्रृंगार की प्रवृत्ति प्रमुख थी। इसीलिए पूर्वमध्यकाल को भक्तिकाल और उत्तरमध्यकाल को श्रृंगारकाल कहा गया। आचार्य शुक्ल ने रस या भाव की दृष्टि से श्रृंगारकाल कहने की छूट दी है किंतु ग्रंथ रचना की व्यापक पद्धति रीतिबद्ध दिखाई पड़ी अत: उन्होंने इस काल को रीतिकाल कहना ही उचित समझा।

सबसे पहले मिश्र बंधुओं ने उत्तर मध्यकाल को 'अंलकृतकाल' कहा। मिश्र बंधुओं ने संस्कृत काव्यशास्त्र में सामान्यत: व्यवहृत 'अलंकार' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जो कि सम्पूर्ण काव्यांगों का बोधक था। शुक्लजी ने उसी व्यापक अर्थ में 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है। पं.विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'व्यापक प्रवृत्तियों के बोध और अंतर्विभाग का सुभीता' की दृष्टि से इसे श्रृंगारकाल कहना अधिक उपयुक्त समझा। उनकी मान्यता थी कि इस नाम को स्वीकार करने से काव्य के आंतर धर्म 'रस' का बोध होता है जब कि 'रीतिकाल' उसके बाह्य रूप काव्य-रीति का बोधक है। डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इसे 'कलाकाल' कहा जो कि 'अलंकृत काल' का ही अपर पर्याय माना जा सकता है।

डॉ.नगेन्द्र ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास, षष्ठभाग के 'संपादकीय वक्तव्य' में श्रृंगारकाल नाम की अपेक्षा 'रीतिकाल' को ही उपयुक्त माना। आचार्य शुक्ल का 'रीतिकाल' नाम प्राय: सभी विद्वानों ने स्वीकार किया और वही प्रचलित भी हुआ।

सीमानिर्धारण

साहित्य में किसी प्रवृत्ति का न तो आविर्भाव होता है न पूर्णत: तिरोभाव। उसमें एक प्रवृत्ति प्रारंभ होती है, उसका उत्थान होता है फिर धीरे-धीरे अवसान। रीतिकाव्य का सूत्रपात तो बहुत पहले हो चुका था, जिसका प्रमाण कृपाराम की हिततरंगिणी से मिलता है, किंतु उसका विधिवत् प्रवाह चिंतामणि से माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के मध्यकाल का विस्तार सं.1375-1900 वि. तक माना है। इसे पुन: दो खंडो में विभाजित किया गया - पूर्व मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल (सं.1375 से 1700 वि.) और उत्तर मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल (सं.1700 से 1900 वि.)। वास्तव में संपूर्ण मध्यकाल की साहित्यिक प्रवृत्ति भक्ति और श्रृंगार परक रही है। पहले भक्ति प्रमुख थी और श्रृंगार गौण, बाद में श्रृंगार प्रमुख हो गया और भक्ति गौण। रीतिकाल के नामकरण और सीमानिर्धारण की विस्तृत चर्चा हम पाठ्यक्रम-6 के खंड-1 की पहली इकाई-काल विभाजन और नामकरण में कर चुके हैं अत: यहाँ हमने रीतिकाल के नामकरण पर तथा सीमानिर्धारण पर केवल संकेत भर दिया है।

10.3 रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि

पूर्वमध्यकाल का काव्य लोकवादी रहा है क्योंकि भक्त-कवि प्राय: सामान्य जन के बीच अपनी भक्ति-भावना का प्रचार करते थे। उनमें लोक मंगल और रंजन की प्रवृत्ति प्रधान थी किंतु रीतिकालीन कविता सामान्य जन से कटकर राजदबारों में आ गई। परिणामत: वह जन-साहित्य न होकर गोष्ठी साहित्य हो गई। गोष्ठी साहित्य में जीवन का गतिशील रूप नहीं रहता बल्कि उसका स्थिर रूप ही प्रस्तुत होता है। साहित्य

अपने परिवेश से प्रभावित होता है। रीतिकालीन कविता देशी या विदेशी राजाओं-नवाबों के दरबार में लिखी गई इसलिए उस पर तत्कालीन सामंती परिवेश का पूरा प्रभाव पड़ा। केवल कविता की ही बात नहीं है, अन्य ललित कलाएँ भी उससे प्रेरित हुईं। रीतिकालीन कविता की निम्नलिखित पृष्ठभूमियों का विवेचन हम यहाँ संक्षेप में कर रहे हैं।

10.3.1 दरबारी पृष्ठभूमि

यों तो हर युग में कवि अपने आश्रय के लिए राज-सभाओं में जाने को बाध्य होता था क्योंकि उसे वहीं पोषण मिलता था। प्राचीन काल के सम्राटों की सभाओं में विद्वान, कवि, गायक, विदूषक, इतिहास पुराण के ज्ञाता आदि रहते थे। इन्हें आश्रय और सम्मान देकर आश्रयदाता भी यश और सम्मान प्राप्त करता था। विक्रमादित्य और भोज ऐसे ही गुणज्ञ शासक थे। किंतु धीरे-धीरे राजाओं की गुणज्ञता क्षीण होने लगी और उनके दरबारों मे रूढ़िबद्धता बढ़ने लगी। भाव की गंभीरता और व्यापकता के स्थान पर काव्यों में अलंकरण और प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही शेष रह गई।

जब शासन-व्यवस्था सुदृढ़ होती है, देश में समृद्धि और शांति होती है तब अन्य कलाओं के साथ काव्य का भी उत्कर्ष होता है। सम्राट हर्षवर्द्धन के शासनकाल, आठवीं शताब्दी विक्रमी तक देश में शांति, सुव्यवस्था दृढ़ थी तो काव्य और कलाओं का पूर्ण उत्कर्ष हुआ किंतु उसके बाद पश्चिमोत्तर सीमांत से विदेशियों के आक्रमण प्रारंभ हो गए और देश के उत्तरी भू-भाग में अराजकता छा गई। यह स्थिति न्यूनाधिक अकबर के समय तक बनी रही। मुगल दरबार में संगीतज्ञ, शिल्पी, चित्रकार और विविध भाषाओं के कवि रहते थे। अब्दुल रहीम खानखाना जैसे प्रतिभा सम्पन्न प्रशासक, कवि और गुणज्ञ व्यक्ति थे जिनका संपर्क तुलसीदास, केशवदास और वैष्णव भक्तों से बना हुआ था। नरहरि, तानसेन, गंग, बीरबल आदि अकबर के अनेक दरबारी कवि थे। जहाँगीर के दरबार में पुहकर, केशव मिश्र तथा शाहजहाँ के दरबार में सुंदर, कुलपति मिश्र, चिंतामणि और आचार्य पंडितराज जगन्नाथ रहते थे। किंतु उसके बाद औरंगजेब की कट्टरता के कारण कवि-कलाकार मुगल दरबार से विदा हो गए।

जो स्थिति मुगल दरबार की थी वही स्थिति उत्तर भारत के सभी राज दरबारों की थी। अकबर के द्वारा स्थापित समृद्ध राज्य के उत्तराधिकारी विलासी और प्रदर्शन-प्रिय हो गए। उसके प्रभाव से देशी राजाओं में भी सुरा-सुंदरी का प्रचलन बढ़ा। रीतिकालीन कवि इस दरबारी वातावरण से पूरी तरह प्रभावित हुए। रातिबद्ध कवि तो उसके अभिन्न अंग थे ही रीतिमुक्त कवि भी उससे अछूते न रहे। बाद में अपनी स्वच्छंदवृत्ति के कारण ये कवि दरबारों से मुक्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक काव्य-रचना में लगे।

10.3.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

औरंगजेब की मृत्यु के बाद देश की केंद्रीय सत्ता का प्रभाव कम होने लगा। जगह-जगह सामंत अपनी शक्ति को बढ़ाने लगे। सामंत, बादशाहों की जीवन पद्धति का भी अनुकरण करने लगे। विभिन्न सामंतों के यहाँ हरमखाने खुलने लगे। हरमखाना में हजारों स्त्रियाँ पुरूष के मनोरंजन के लिए रखी जाने लगी। कला और संगीत में घरानों का उदय भी इसी काल में हुआ था। वस्तुतः सामंत, जीवन के हर पक्ष में बादशाह की नकल करने लगे। सत्ता के विकेंद्रीकरण के साथ उन जीवन दृष्टियों का भी विकेंद्रीकरण हुआ, जिस जीवन दृष्टि को सामंतवाद ने अर्जित किया था। सामंतवादी जीवन मूल्यों ने प्रदर्शन और विलासिता को बढ़ाया दिया।

जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है रीतिकालीन काव्य राजदरबारों में निर्मित हुआ, अतः वह एक वर्ग-विशेष की प्रवृत्तियों को ही प्रतिफलित करता है। जिस समय रीतिकाल का आरंभ हुआ उस समय सम्राट और सामंत वैभव के प्रदर्शन और विलासिता में अपने कर्त्तव्यों को तिलांजलि दे चुके थे। शाहजहाँ के पश्चात उसके बेटों में सत्ता के लिए संघर्ष शुरू हो चुका था। साहिष्णु दारा शिकोह की हत्या कर औरंगजेब गद्दी पर बैठा। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था। उसने अपनी रूढ़िवादिता के कारण साहित्य, संगीत और कलाओं का बहिष्कार किया। हिंदुओं पर तरह-तरह के अत्याचार किए। इसके परिणामस्वरूप सिखों, मराठों, जाटों आदि ने उसके प्रति विद्रोह प्रारंभ कर दिया। उसका अधिक समय विद्रोहियों से युद्ध करने में व्यतीत हुआ।

औरंगजेब के पश्चात मुगल वंश में कोई भी ऐसा पुरुषार्थी शासक उत्पन्न नहीं हुआ जो देश में शांति-सुव्यवस्था स्थापित करता । प्रजा इस राजनीतिक दुरावस्था से दुखित थी -

दुसह दुराज प्रजानु कौं, क्यों न बढ़ै दुख-दंदु।

अधिक अंधेरौ जग करत मिलि मावस रबि-चंदु।।357।। - बिहारी रत्नाकर

शासन व्यवस्था के शिथिल होने और आंतरिक कलह के कारण विदेशियों के आक्रमण शुरू हो गए। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली ने मनमाने ढंग से कत्लेआम किया और प्रजा को लूटा। उसके प्रतिरोध की क्षमता न तो दिल्ली के बादशाह में थी और न देशी राजाओं में ही। यदि संगठन की शक्ति होती तो न बाहरी लुटरे लूटपाट कर सकते न प्रजा की तबाही ही होती। यही दशा अंग्रेजों से युद्ध करते समय बक्सर में हुई जिसमें शाह आलम को बुरी तरह पराजित होना पड़ा और देश का पूर्वी भाग अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। यदि राजस्थान के राजे-महाराजे और सामंतगण संयुक्त रूप से विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला करते तो हिंदी के कवियों को भी शौर्य और पराक्रम के भाव जगाने की प्रेरणा मिलती। किंतु शासक वर्ग में षड्यंत्र और स्वार्थपरता व्याप्त थी।

10.3.3 सामाजिक पृष्ठभूमि

जब देश में पौरुषहीन विलासिता और वैभव के प्रदर्शन की प्रवृत्ति व्याप्त हो तब सामाजिक सुव्यवस्था कैसे रह सकती है? समाज में शासक और शासित के बीच खाई बढ़ती जा रही थी। शासन-तंत्र निरंकुश और शोषक बन गया था। प्रजा की दयनीय दशा की तरफ ध्यान देने वाला कोई नहीं था। शोषक शासकों का समूह बढ़ता जा रहा था और शोषित प्रजा हर प्रकार के अत्याचार को सहने के लिए विवश होती जा रही थी। ऐसी दशा में अपने भाग्य का ही दोष मान कर उसने संतोष कर लिया था।

कवि-कलाकार उत्पन्न होते थे प्रजा-वर्ग में, किंतु उन्हें अपनी कला के समादर और अपनी आजीविका के लिए सामन्त या राजन्य वर्ग की शरण लेनी पड़ती थी। ऐसी स्थिति में वे अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल अपनी कला को ढालते थे। सामान्य जन में न तो कला की परख थी और न कलाकार को पुरस्कृत करने की क्षमता। उसे तो परिवार का पेट भरना ही कठिन था। सारा जीवन घोर परिश्रम में ही बीत जाता था। उनके सुख-दुख की बात सुनने-सुनाने वाला कोई नहीं था। कवि-कलाकार को जहाँ से पोषण मिलता था, वे उसी वातावरण से प्रेरणा लेते थे। रीतिकाल के कवियों को रसिक वर्ग में रखा जा सकता है क्योंकि इन्हें राजदरबार में सामंतों के संसर्ग में रहना पड़ता था। इनकी भी रुचि नागर होती थी। ये अशिक्षित ग्रामीणों को गँवार समझते थे जिनकी गणना अरसिकों में होती थी।

वे न इहाँ नागर, बढ़ी जिन आदर तो आब।

फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गँवई-गाँव, गुलाब।।438।। बिहारी-रत्नाकर

इस प्रकार रीतिकालीन कविता का सामाजिक परिवेश नागर होता था जो विशेष संस्कार और रुचि से सम्पन्न माना जाता था। लोकजीवन की त्रासद स्थितियों की चर्चा करके वे आश्रयदाता का कोप भाजन नहीं बनना चाहते थे। इतिहासकारों ने इस विषय की विस्तार से चर्चा की है। इस विषय पर अधिक जानकारी के लिए आप हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों का अध्ययन कर सकते हैं।

10.3.4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

रीतिकालीन कविता जिस संस्कृति की उपज थी, उस पर तत्कालीन दरबारों का गहरा प्रभाव पाया जाता है। दरबारों में ही संगीत कला, चित्रकला और स्थापत्यकला का पोषण हो रहा था। दरबार चाहे मुगल बादशाहों, नवाबों का हो या राजा-महाराजाओं का, कलाकारों को वहीं प्रश्रय मिलता था। मुगल दरबारों में फारसी भाषा ही प्रचलित थी, उनकी कलात्मक अभिरुचि ईरानी शैली से प्रभावित थी। हिंदू दरबारों में जिन कलाओं को संरक्षण मिला उन पर भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का प्रभाव देखा जा सकता है, किंतु उन पर धीरे-धीरे ईरानी शैली अपना रंग चढ़ाती गई। आइए, इस युग की विविध कलाओं तथा उन पर पड़े प्रभावों की चर्चा करें।

डॉ. कुमारस्वामी ने राजपूत शैली और मुगल शैली की चित्रकला को पृथक-पृथक माना था किंतु नए अनुसंधानों से दोनों शैलियों पर एक दूसरे का प्रभाव पाया गया है। रीतिकाल में इन शैलियों में चित्रकार की आंतरिक ऊर्जा के स्थान पर परंपरा निर्वाह की प्रवृत्ति ही प्राप्त होती है। चाहे ये चित्र नायक नायिका भेद से संबद्ध हों चाहे राग-रागिनियों से या फिर पौराणिक आख्यानों से, सब में विलासिता और प्रदर्शन की ही प्रमुखता होती है। पौराणिक आख्यानों या व्यक्ति चित्रों के आलेख में कोई मौलिकता या सजीवता नहीं मिलती।

स्थापत्य कला

फारसी वास्तुशैली को भारतीय स्थापत्य कला से सम्मिश्रित करके जिस नई शिल्पकारी का जन्म हुआ था उसका श्रेष्ठ प्रमाण 'ताजमहल' है। अकबर के शासन काल में लाल पत्थरों के प्रयोग से निर्मित किले, सम्राट की महत्त्वाकांक्षा और पौरुष के प्रतीक बन गए थे। इसी समय से अलंकरण और प्रदर्शन की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी फिर भी उनमें चमत्कारपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता थी। राजपूत शैली में निर्मित राजस्थान के महलों के निर्माण में मुगल शैली के अनुकरण का प्रयास लक्षित होता है। जहाँगीर ने वास्तुकला के विकास में विशेष योगदान दिया। वास्तव में वह चित्रकला का प्रेमी था अत: उसके समय में भवनों, मकबरों और मस्जिदों के निर्माण में भी बारीक पच्चीकारी के नमूने प्राप्त होते हैं। विलास और ऐश्वर्य के इस युग में संगमर्मर के श्वेत पत्थरों में तरह-तरह के बेलबूटे और कीमती पत्थरों के प्रयोग द्वारा युगानुरूप प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया गया। शाहजहाँ ने इनमें और भी सूक्ष्म सज्जा का प्रयोग किया। जामा मस्जिद और ताजमहल दोनों हुमायूँ के मकबरे के अनुकरण पर निर्मित है। जिस प्रकार चित्रकला में परंपरित शैली, विलास और ऐश्वर्य के साथ अलंकरण की प्रवृत्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार तत्कालीन स्थापत्यकला पर मौलिकता शून्य अभ्यासजन्य पच्चीकारी की अधिकता लाक्षित की जा सकती है।

संगीत कला

अकबर के समय में संगीत का चरम उत्कर्ष दृष्टिगत होता है। ग्वालियर के दरबार में 'ध्रुपद' जैसी गंभीर शैली का विकास हुआ। तानसेन ने संगीत में एक कीर्तिमान स्थापित किया। जहाँगीर के समय में 'संगीत दर्पण' जैसे संगीत शास्त्र का सुव्यवस्थित ग्रंथ निर्मित हुआ। शाहजहाँ के समय में गंभीरता और उदात्तता के स्थान पर कोमल रागों का ज्यादा प्रयोग हुआ। मुगल और हिंदू संगीतज्ञों को राज्याश्रय मिला किंतु औरंगेजेब के कट्टर धार्मिक आग्रह के कारण दिल्ली दरबार से विलासिता और ऐश्वर्य प्रदर्शन के साथ कलात्मक आमोद-प्रमोद भी बहिष्कृत कर दिए गए। मुहम्मदशाह 'रंगीले' के समय में दिल्ली दरबार पुन: संगीतकारों और रसिक कलाकारों से सुशोभित हो उठा। भारतीय संगीत फारसी प्रभाव से सम्पन्न होकर विलासवृत्ति प्रधान हो गया। इस युग में चतुंरग शैली में ख्याल, तराना, सरगम और चिवट (मृदंग के बोल) सबके मिश्रण से संगीत की वैचित्र्यपूर्ण रचना की जाती थी। डॉ.श्यामसुन्दर दास ने लिखा - "वाजिद अली शाह (अवध के नवाब) के समय की रंगीली रसीली ठुमरी अपने-अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं लोक की प्रौढ़ रुचि में जिस क्रम से पतन हुआ उसका इतिहास भी है।"

इन ललित कलाओं के विकास और ह्रास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि ये सब अपने आश्रयदाताओं की रुचियों के परिवर्तनों का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। मुगल साम्राज्य के उत्थान के साथ इनका भी उत्थान हुआ और पतन के साथ ही इनमें भी पतन के लक्षण दृष्टिगत हुए।

10.3.5 धार्मिक पृष्ठभूमि

धर्म भी युगधर्म से अप्रभावित नहीं रह सकता। अकबर के शासनकाल में धर्म में भी उदारता और सहिष्णुता की भावना प्रधान हो गई थी। अकबर ने विभिन्न धर्मों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया था। उसके द्वारा चलाया गया धर्म 'दीने-इलाही' इस बात का प्रमाण है। हिंदू-मुसलमान की एकता के

लिए उसने राजपूतों से वैवाहिक संबंध स्थापित किए किंतु औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ने उसके दीर्घकालीन प्रयासों को धराशायी कर दिया।

नैतिक पतन के इस युग में धार्मिक भावना भी अपने उदात्त मूल्यों का त्याग कर रूढ़िपालन और अंधविश्वास से ग्रस्त हो गई। पंडितराज की प्रसिद्ध उक्ति है "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" अर्थात् कवि-कलाकारों को संरक्षण या तो दिल्लीश्वर के दरबार में मिल सकता है या फिर जगदीश्वर के दरबार में ही। लेकिन उन्हीं पंडितराज के समय में दोनों ईश्वरों के चारों और विलासिता और ऐश्वर्य प्रदर्शन का जाल बिछ गया था जिससे धर्म या नैतिकता के स्वरूप में काफी गिरावट आ गई थी।

आचार्य शांडिल्य ने भक्ति की व्याख्या करते हुए ईश्वर के प्रति जिस 'परानुरक्ति' या उत्कृष्ट प्रेम की प्राप्ति भक्त का परम लक्ष्य सिद्ध किया था, कालान्तर में वही भक्ति भाव-तत्व से विहीन होकर स्थूल काम-चेष्टाओं की अभिव्यक्ति का साधन बन गई। श्री सम्प्रदाय के आचार्य रामानुज ने प्रपत्तिवाद या दास्य भक्ति का प्रचार किया था। उन्हीं की शिष्य परंपरा में आने वाले रीतिकालीन सतनामी, लालदासी, नारायणी आदि सम्प्रदायों के शिष्य विलास और वैभव की आराधना करने लगे।

श्री निम्बार्काचार्य ने कृष्णभक्ति की जिस मधुर धारा को प्रवाहित किया उसमें दीक्षित रीतिकाल के अधिकांश भक्त और कवियों ने बाह्य विलास-कलाओं के विस्तार द्वारा हिंदी काव्य को परिपूर्ण कर दिया। हितहरिवंश के राधावल्लभ सम्प्रदाय में और चैतन्यमतानुयायी गोस्वामियों के मधुर रस में जिस प्रेममूला भक्ति को स्वीकृति मिली वही बाद में काममूला रति में परिणत हो गई। द्विवेदीजी ने भक्तों की ऐसी साधना में आंतरिक प्रेम-निवेदन की भावना के साथ ही साथ बाह्य उपकरणों में भी सभी भाव, वेश-भूषा और हाव-भाव के अनुकरण को साधना-पक्ष के ह्रास का द्योतक माना है। रीतिकाल की धार्मिक पृष्ठभूमि भी ऐसी सुदृढ़ और उदात्त नहीं रह गई थी कि समाज में व्याप्त अंधविश्वास, स्वार्थपरता और नैतिक दुर्बलता को दूर करने में सक्षम होती। रागानुगा भक्ति में तो वैलासिक वृत्ति के विकास का पूरा अवकाश था ही, उसके प्रभाव से वैधी भक्ति के मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी बच नहीं पाए। उनकी मधुरोपासना ने दरबारी शृंगारिक काव्य को भी पीछे छोड़ दिया।

10.3.6 साहित्यिक पृष्ठभूमि

साहित्य पर समाज और संस्कृति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। रीतिकाल का काव्य भी अन्य ललितकलाओं की भांति सामन्ती परिवेश से पूर्णत: प्रभावित है। रीतिकालीन कवियों का सौंदर्य-बोध मुगलकालीन वैभव और विलास से ही प्रेरित था। आ.शुक्ल ने लिखा -"राजा-महाराजाओं के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द वहाँ चारों ओर सुनाई देने लगे। अत: भाट या कवि लोग 'आयुष्मान्' और 'जयजयकार' ही तक अपने को कैसे रख सकते थे? वे दरबार में खड़े होकर 'उमरदराज महाराज तेरी चाहिए' पुकारने लगे।''

भक्तिकाल के कवियों ने दास्य, सख्य, वत्सल और शृंगार या मधुर इन चार रसों को स्वीकार किया पर कृष्णभक्ति में विशेष विकास शृंगार का ही हुआ। भक्ति काल की अंतिम रचनाएँ काव्य दृष्टि से शृंगार की ही रचनाएँ हैं, भले ही उसे हम लौकिक शृंगार की सीमा में न घेर सकें पर वह शृंगार का ही ईश्वर से संबद्ध रूप हो गई हैं। इस विषय में आ.शुक्ल का कहना है कि - हिंदी में शृंगार की काव्यधारा भक्तिधारा से ही फूटी अत: स्वकीया - प्रेम के लिए उसमें अवकाश न रहा। प्रेम के विस्तार और वैविध्य के लिए परकीया - प्रेम ही अधिक उपयुक्त था, फिर दरबारों में फारसी प्रेम - पद्धति के निरूपण में भी परकीया - प्रेम में आवेग और तीव्रता का प्रदर्शन किया जाता था। जिससे हिंदी के कवि भी अछूते न रह सके। भारतीय मर्यादा को ध्यान में रखकर प्रेम के आलंबन श्रीकृष्ण और राधा ही रखे गए। घोर वासनापूर्ण रचना करने वालों ने भी भक्ति की शृंगारिकता का आवरण बनाए रखा। इन कृष्ण भक्त कवियों ने अपने भगवत् प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से जनता को रासोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय वासना पूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर उन्होंने ध्यान न दिया। फलत: रीतिकालीन कविता में राधा-कृष्ण के नाम के साथ उनकी वे सारी लीलाएँ भी आ गई जो तद्युगीन वैलासिक अभियक्ति में सहायक हुईं।

रीतिकालीन कविता में जिस साहित्यिक दृष्टिकोण का विकास प्राप्त होता है वह भारतीय साहित्य की परंपरा से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। उसके अनुसंधान के लिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी के रीतिपूर्व साहित्यिक परंपरा का अनुशीलन आवश्यक है। विद्वानों का मत है कि ऐहिक शृंगारपरक मुक्तकों का स्रोत वैदिक सूक्तों में पाया जा सकता है। उसका अगला विकास लौकिक संस्कृत में हुआ किंतु ऐसे मुक्तकों का प्राचीन संग्रह प्राप्त नहीं होता। प्राकृत भाषा में **हाल की सप्तशती** अवश्य प्राप्त होती है। जिससे संकेत मिलता है कि ऐसी गाथाएँ लोक जीवन में पर्याप्त मात्रा में प्रचलित रही होंगी। इन गाथाओं के संबंध में विद्वानों का अनुमान है कि ये गाथाएँ आर्य और आभीर संस्कृतियों के निकट संपर्क के कारण उद्भूत मानसिकता को प्रकट करती हैं। रीतिकालीन कविता को इससे पर्याप्त प्रेरणा मिली। 'रीतिकालीन कविता के स्वरूप' की इकाई में हम इस विषय पर चर्चा करेंगे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि भक्तिकालीन कविता की आदर्शोन्मुख गंभीरता, व्यापकता और मानवीय मूल्यों की उदात्तता खो चुकी थी। राजनीतिक पराभव के साथ ही धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में नैतिकता का ह्रास, रूढ़िवादिता और मौलिकता का अभाव व्याप्त हो गया था। अकबर की उदारता और समन्वय की प्रवृत्ति ने जहाँ देश को कुशल प्रशासन, दृढ़ता और सुव्यवस्था दी वहीं साहित्य, संगीत और कलाओं में भी अद्‌भुत सामंजस्य और मौलिकता के दर्शन हुए। उसके दरबार में नौ रत्नों के अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों कवियों और धार्मिक नेताओं का सम्मान किया जाता था। उसने उच्चस्तरीय सांस्कृतिक चेतना का प्रसार किया किंतु उसके उत्तराधिकारी प्रदर्शनप्रिय और विलासी हो गए जिसका प्रभाव हिंदी-साहित्य पर दूर तक पाया जाता है। भक्ति काव्य में अलंकरण और शृंगारिकता का प्रचलन बढ़ा। भारत-ईरानी कला और जीवन दर्शन ने साहित्य में व्यापक रूप ग्रहण किया। देवालयों में मुगल दरबार का अनुकरण किया जाने लगा। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और नट नागर कृष्ण दोनों पर तत्कालीन दरबारों का प्रभाव पाया जाता है। सामान्य जन-भावना से देश के शासक और विश्वनियंता देवता दोनों दूर होते गए। यह सांस्कृतिक और नैतिक पतन का चरम बिंदु था। साहित्य जब-जब रूढ़िग्रस्त होकर अपनी जीवंतता खोने लगता है तो नई स्फूर्ति के लिए उसे जन-जीवन के निकट संपर्क में आना पड़ता है। रीतिकाल के बाद हिंदी साहित्य नई चेतना के लिए फिर लोकोन्मुख हुआ और उसमें नव-जागरण के स्वर मुखर हुए।

वास्तव में, रीति काव्य भक्तिकाव्य का ही परिविस्तार है। अंतर केवल इतना है कि पूर्ववर्ती साहित्य में लोक-जीवन के निकट होने के कारण भावावेग और भाव-विस्तार है जबकि परवर्ती साहित्य सीमित परिवेश की उपज था। अत: उसमें जीवंतता का अभाव पाया जाता है।

10.4 रीतिकालीन काव्य का आधार

पहले 'रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि' में तद्‌युगीन दरबारी, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक पृष्ठभूमियों का परिचय दिया जा चुका है। अब आप रीतिकालीन कविता के विभिन्न आधारों का अध्ययन करेंगे जिनसे उस युग के कवियों ने प्रेरणा ली तथा साहित्य रचना की ओर उन्मुख हुए। देखा जाए तो, रीतिकालीन कविता में जो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती है उनका सूत्रपात बहुत पहले ही हो चुका था। कुछ प्रवृत्तियाँ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से हिंदी में आईं। इनमें से कुछ का अस्तित्व नगण्य रहा पर कुछ प्रवृत्तियों का विकास प्रबल वेग के साथ हुआ। आइए, रीतिकाव्य के विकास के आधारों पर चर्चा करें।

10.4.1 काव्यशास्त्रीय आधार

रीतिकालीन कविता के विकास का प्रमुख आधार काव्यशास्त्रीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रवृत्ति के आधार पर उत्तर मध्ययुग को 'रीतिकाल' की संज्ञा प्रदान की। हिंदी में जो काव्यशास्त्रीय परंपरा विकसित हुई, उसका आधार बहुत कुछ संस्कृत काव्यशास्त्र है। भक्तिकाल में ही **कृपाराम** की 'हिततरंगिणी' **नंददास** की 'रसमंजरी' **सूरदास** की 'साहित्यलहरी' **केशवदास** की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना हो चुकी थी। आचार्य केशवदास का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उन्होंने रीति-निरूपण की हिंदी में सुदृढ़ परंपरा स्थापित कर दी। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने नंददास से लेकर सेनापति तक

रीति-निरूपक आचार्यों की अविच्छिन्न परंपरा का उल्लेख किया है। अन्य साहित्य-इतिहासकारों ने उक्त तालिका में कृपाराम का नाम भी जोड़ दिया है।

संस्कृत में काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र की एक लंबी परंपरा प्राप्त होती है। हिंदी के रीतिकवियों ने नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र की परंपरा को अंगीकार नहीं किया। इन दोनों का जो प्रभाव संस्कृत काव्यशास्त्र पर पड़ा उसे अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया। संस्कृत में शास्त्रीय-विवेचन जिस प्रौढ़ता और गंभीरता से किया गया वैसा हिंदी में नहीं हो सका। इसके कई कारण हैं। तत्कालीन सामंतवर्ग की काव्यशास्त्र में कोई विशेष रुचि नहीं थीं। वे मूलत: रसिक थे और काव्यशास्त्र के सामान्य ज्ञान द्वारा अपनी रसिकता का ही पोषण करना चाहते थे। इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्र के रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि गंभीर संप्रदायों का विकास हिंदी में नहीं हो सका। केवल रस और अलंकार संप्रदायों का ही किंचित् परिचय इन हिंदी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में मिलता है। वास्तव में हिंदी के आचार्य कवि-कर्म का निर्वाह भी साथ-साथ करने लगे थे। जिससे न तो वे पूर्णरूप से आचार्य ही हो पाए और न रीतिबंधन को स्वीकार करने के कारण अपनी काव्य प्रतिभा का ही उत्कर्ष प्रकट कर सके। रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा रीतिसिद्ध कवियों में काव्य प्रतिभा का अधिक उपयोग देखा जा सकता है और रीतिमुक्त या स्वच्छंद काव्यधारा के कवियों में उसका चरम प्रदर्शन हो सका है।

रीतिकालीन कवियों को प्राय: तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जाता है :

1. रीतिबद्ध कवि
2. रीतिसिद्ध कवि
3. रीतिमुक्त कवि

रीतिबद्ध कवि पुन: दो प्रकार के माने गए - एक सर्वांगनिरूपक और दूसरे विविधांग निरूपक या विशिष्टांग निरूपक। रीतिबद्ध सर्वांग निरूपक कवि वे हैं जिन्होंने काव्य के सभी अंगों काव्य लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-गुण, काव्य-दोष, शब्द शक्ति, रीति, वृत्ति, रस, अलंकार, ध्वनि आदि का विवेचन किया। इस वर्ग में केशवदास, चिंतामणि, देव, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि और ग्वाल मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने आचार्य कर्म को अधिक गंभीरता से लिया। इसलिए उदाहरणों की अपेक्षा लक्षणों पर इनका ध्यान अधिक था। इन्होंने संस्कृत के प्रौढ़ ग्रंथों-मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' को अपना उपजीव्य बनाया। हालांकि ये कवि ध्वनि और उसके भेदों के विवेचन में भी प्रवृत्त हुए पर उसमें स्पष्टता और स्वच्छता न ला सके।

दूसरे प्रकार के (विविधांग/विशिष्टांग निरूपक) कवियों ने काव्यशास्त्र के उन अंगों का निरूपण किया जिनमें उन्हें सरस उदाहरणों की रचना का अधिक अवकाश था। इन्हें मुख्यत: तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

1. रस निरूपक
2. अलंकार निरूपक
3. पिंगल निरूपक

रस-निरूपक आचार्यों ने मुख्यत: श्रृंगार रस का सांगोपांग विवेचन किया किंतु अन्य रसों का संक्षिप्त परिचय-मात्र दिया। इनमें भी उन्होंने अधिक रुचि नायक-नायिका भेद के प्रतिपादन में दिखाई। इन्होंने मुख्य रूप से संस्कृत के भानुदत्त की रसमंजरी और रसतरंगिणी को अपना आधार बनाया किंतु कहीं-कहीं 'नाट्यशास्त्र', 'कामशास्त्र', 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' से भी सहायता ली है। संस्कृत के अलावा हिंदी के **'रसिकप्रिया'**, **'बरवै नायिका भेद'** और **'नगर शोभा'** भी इनके आधार ग्रंथ रहे हैं। इस वर्ग में हिंदी रीति-कवि तोष की **'सुधानिधि'**, देव के **'भावविलास'**, भिखारी दास के **रस सारांश**, सैयद गुलाम नबी **'रसलीन'** के **'रसप्रबोध'**, पद्माकर के **'जगद्विनोद'**, बेनी **'प्रवीन'** के **'नवरसतरंग'** आदि का उल्लेख किया जा सकता है। श्रृंगार रस एवं नायक-नायिका भेद-निरूपक ग्रंथों में मतिराम के **'रसराज'**, कालिदास त्रिवेदी के **'वारवधू विनोद'** का विशिष्ट स्थान है। इस वर्ग के लगभग बीस कवियों और उनकी कृतियों का

विवेचन 'हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास' के षष्ठ भाग में किया गया है। अलंकार-निरूपक आचार्यों ने संस्कृत के जयदेव के '**चंद्रालोक**' और अप्पयदीक्षित के '**कुवलयानंद**' का ही अधिक आधार ग्रहण किया है। हिंदी में आचार्य केशवदास ही ऐसे आचार्य-कवि हैं जिन्होंने दंडी के काव्यादर्श को अपने अलंकार विवेचन का आदर्श बनाया।

जिस प्रकार रस और नायक-नायिका भेद का विवेचन करने वाले आचार्यों ने '**भानुदत्त**' को अपना आधार बनाया था जिससे काव्य-रसिकों को रस और नायक-नायिका भेद का सामान्य ज्ञान कराया जा सके उसी प्रकार अलंकार विवेचन करने वाले आचार्यों ने अलंकार शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों- '**चंद्रालोक**' और '**कुवलयानंद**' को उपजीव्य बनाया। आचार्य केशव ने तो 'कवि-प्रिया' के रचना-उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है -

> **'समुझें बाला-बालकहु बर्नन पंथ अगाध।**
> **कविप्रिया केशवकरी, छमियो कवि अपराध।'**

लेकिन केशव ने जो अलंकार शब्द का वर्ण्य और वर्णनशैली दोनों के अर्थ में प्रयोग किया और इसके दो भेद 'सामान्यालंकार' और 'विशेषालंकार' किए, वे रीतिकवियों को स्वीकृत नहीं हुए।

केशवदास के पश्चात् पचास वर्ष बाद महाराज जसवंत सिंह ने 'कुवलयानंद' के आधार पर अलंकार-निरूपण किया। इनके ग्रंथ '**भाषाभूषण**' की विशेषता यह है कि एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण भी 'कुवलयानंद' की शैली में निबद्ध किए गए हैं। यद्यपि इनका निरूपण स्पष्ट और बोधगम्य है किंतु उससे अलंकारों का पूरा स्वरूप-बोध नहीं हो पाता। इन्होंने 'चंद्रालोक' के अनुसार शब्दालकारों का भी परिचय दिया है जबकि 'कुवलयानंद' में इनका उल्लेख नहीं है। इस वर्ग में मतिराम के '**ललितललाम**' और '**अलंकार पंचाशिका**' दो ग्रंथ मिलते हैं। अलंकारों की संख्या और क्रम 'कुवलयानंद' के ही अनुसार हैं। विषय के अवबोध के लिए 'ललितललाम' अधिक प्रौढ़ है। 'पंचाशिका' इनकी प्रारंभिक रचना मालूम पड़ती है। भूषण कवि ने मतिराम के 'ललितललाम' के ही आधार पर 'शिवराजभूषण' की रचना की है। पद्माकर के 'पद्माभरण' का सरस और संक्षिप्त शैली के कारण अलंकार-निरूपक ग्रंथों में विशिष्ट स्थान है। पद्माकर रीतिकाल के अंतिम प्रसिद्ध आचार्य थे। इनके अतिरिक्त गोप, रसिक सुमति, दूलह, बैरीसाल और गोकुलनाथ भी उल्लेख्य आचार्य हैं।

छन्द निरूपक आचार्य

हिंदी में पिंगलनिरूपण का विविधत् प्रारंभ आचार्य केशवदास से माना जाता है। दूसरे आचार्य चिंतामणि और उनके भाई मतिराम माने जाते हैं। केशव ने 'छंदमाला' की रचना कवि शिक्षक के रूप में की। वे स्वयं लिखते हैं,

> **'भाषा कवि समुझैं सवै सिगरे छंद सुझाइ'।**
> **छंदन की मालाकरी सोभन केसवराइ।**

'चिंतामणि के ग्रंथ का भी नाम 'छंदमाला' ही है। उक्त दोनों ग्रंथ सामान्य कोटि के हैं। मतिराम की 'वृत्तकौमुकी' छंदोनिरूपक ग्रंथों में महत्वपूर्ण है। इसके उपजीव्य ग्रंथ भट्ट केदार का 'वृत्तरत्नाकर', हेमचंद्र का 'छंदोनुशासन' और 'प्राकृत पैंगलम' हैं। मौलिकता न होते हुए भी इसमें मात्रिक और वर्णिक छंदों का सुव्यवस्थित और परिपूर्ण विवेचन किया गया है। इसके उदाहरण सरल और सरस है। हिंदी साहित्य का वृह्त इतिहास में इस वर्ग के पन्द्रह कवि-आचार्यों के कृतित्त्व का परिचय दिया गया है। यद्यपि उपर्युक्त आचार्यों ने संस्कृत-प्राकृत के ग्रंथों से ही सामग्री का संकलन किया है फिर भी कहीं-कहीं कुछ नए छंदों की रचना का प्रयास किया गया है। कवि शिक्षक के रूप में इन आचार्यों के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हिंदी में काव्यशास्त्रीय विवेचन की परिपाटी संस्कृत से भिन्न प्रणाली पर चली। संस्कृत में लक्ष्य ग्रंथों का निर्माण पहले हुआ लक्षण ग्रंथों का बाद में। वहाँ कवि 'अविचारित रमणीय' की रचना करता था और

आचार्य उसके अनुसार 'सुविचारित नियमों' की स्थापना करता था। हिंदी में दोनों प्रकार की रचना एक ही व्यक्ति करने लगा। परिणाम यह हुआ कि संस्कृत की बँधी-बँधाई पद्धति पर लक्षणों का अनुवाद प्रस्तुत करके उसके अनुरूप उदाहरण रचे जाने लगे। परिणामत: न तो लक्षणों में मौलिकता आ सकी न उदाहरण में ही।

हिंदी के तथाकथित आचार्य मौलिक चिंतक नहीं थे। उन्होंने आचार्य कर्म को गंभीरता से नहीं लिया, उसकी आवश्यकता भी नहीं समझी। क्योंकि इनका उद्देश्य काव्यशास्त्र-विवेचन नहीं था। वह तो संस्कृत में पर्याप्त मात्रा में हो ही चुका था। हाँ, हिंदी काव्यधारा के लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर लक्षणों का निर्माण यदि होता तो इस क्षेत्र में मौलिकता आती किंतु इन कवियों का कार्य तो सरस उदाहरणों के द्वारा काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों का सरल परिचय करा देना भर था। लक्षणानुसारी उदाहरणों की रचना में भी मौलिकता का क्षेत्र सीमित रह गया, अत: अधिकांश उदाहरणों में एकरूपता पाई जाती है। फिर भी इस युग में सामान्य जन के ज्ञानवर्द्धन, रसिकवृत्ति के अनुरंजन और अल्पप्रयास से यश और धन की प्राप्ति के लिए जिस रीतिशास्त्र का निर्माण हुआ उससे कवि और काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई और काव्यशास्त्र का प्रचार-प्रसार हुआ।

हिंदी के भारतेन्दु युग तक रस, छंद, अलंकार के ज्ञान को विद्वत्ता का प्रतीक माना जाता था, किंतु बाद में नवजागरण, सुधारवादी प्रवृत्ति और ज्ञान-विज्ञान के नए क्षेत्रों के विस्तार के कारण रीति परंपरा उपेक्षित हुई और द्विवेदी युग में आदर्शवादी राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के कारण रीति परंपरा को प्रगति-विरोधी ही नहीं संकुचित और अश्लील तक कहा जाने लगा। यह दृष्टि साहित्य के शाश्वत स्वरूप को न देखकर तात्कालिक उपयोगितावाद को ही महत्त्व देने लगी। आचार्य शुक्ल की लोकवादी मान्यताओं ने भी रीति साहित्य में विलासिता और चमत्कार के आधिक्य की निंदा की किंतु पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ. भगीरथ मिश्र और डॉ.रमेश कुमार शर्मा आदि विद्वानों ने आधुनिक आलोचकों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए रीतिकाव्य के सद्पक्ष की पुष्टि की है।

10.4.2 शृंगारिकता का आधार

यदि रीतिकाव्य की प्रतिपादन शैली काव्यशास्त्रीय है तो उसका प्रतिपाद्य विषय शृंगार है। इस शृंगारिकता का आधार काव्यशास्त्र में शृंगार की प्रतिष्ठा, उसके रसराजत्व की स्थापना और शुष्क शास्त्रीय लक्षणों के सरस उदाहरण प्रस्तुत करने की सुदीर्घ परंपरा है। संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन शृंगार बहुल उदाहरणों के द्वारा ही किया जाता रहा है। कविता को ही लोगों ने कामिनी के रूप में स्वीकार किया है। रस-निरूपण में जितना विस्तार शृंगार का किया गया उतना किसी भी रस का नहीं।

हिंदी में रीतिकाल या शृंगारकाल भक्तिकाल का ही विकास है। भक्ति में शृंगार को दिव्य और उज्ज्वल रस के रूप में अलौकिक सिद्ध किया गया किंतु सामान्य जन के लिए उसका लौकिक और स्थूल रूप ही अधिक ग्राह्य हुआ। श्रीकृष्ण की कैशोर लीलाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत में विस्तार पूर्वक किया गया है। वहीं से गोपी (राधा) और कृष्ण, रीतिकाव्य में शृंगार के नायक-नायिका के रूप में गृहीत हुए।

रीतिकालीन कविता दरबारी या सामंती परिवेश की देन है। उसमें वैलासिक वृत्ति ही प्रमुख थी जिसके अनुरूप शृंगार रस और नायिका-भेद का विस्तार हुआ। फारसी, विदेशी दरबारों की समादृत भाषा थी, उसका साहित्य भी अधिकांशत: शृंगारपरक है। उसने हिंदी की शृंगारिकता को और भी प्रोत्साहन दिया। परकीया-प्रेम और प्रेम-वैषम्य उसी परंपरा की देन है। रीतिकाव्य मुक्तकों में निर्मित हुआ। इस शैली में शृंगारपरक वर्णन वैदिक साहित्य, लौकिक संस्कृत साहित्य, प्राकृत के गाथा साहित्य, अपभ्रंश के दूहा साहित्य और आदिकाल की वीरगाथाओं में भी अधिकांशत: परंपरित-रूप में प्राप्त होते हैं।

विविध ललितकलाओं जैसे मूर्ति, चित्र, संगीत आदि - में सर्वत्र शृंगार के विषयों का ही ग्रहण अधिक हुआ। रीतिकालीन कविता की शृंगारिकता के आधार-काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काम शास्त्र, भक्ति के विभिन्न संप्रदायों में न्यूनाधिक मात्रा में गृहीत माधुर्य भाव, तत्कालीन और पूर्ववर्ती देशी-विदेशी राजदरबारों में लालित्यपूर्ण और विलासवृत्ति के अनुकूल वातावरण की उपस्थिति, मुक्तकों की सुदीर्घ परंपरा का आश्रयण आदि माने जा सकते हैं।

आधुनिक युग के मान्य आलोचकों – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं.विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ.नगेन्द्र और डॉ.भगीरथ मिश्र आदि ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि रीतिकालीन कविता में प्राप्त श्रृंगार के वैविध्यपूर्ण उदाहरण विश्व साहित्य में अपना प्रतिस्पर्द्धी नहीं रखते।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीति कवियों की श्रृंगारिकता में सामान्य रूप में इंद्रिय दमनजन्य कुंठाहीनता, शारीरिक सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता, रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि तथा गार्हस्थिकता के गुणदोषों के रहते हुए ऐसी ताजगी है जो काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बंद रहकर भी साधारण पाठक को एक क्षण के लिए आत्मविभोर कर सकती है।

10.4.3 अलंकरण का आधार

काव्य में स्वाभाविक उक्ति की अपेक्षा वक्रतापूर्ण उक्ति को चिरकाल से महत्व दिया जाता रहा है। विद्वानों ने वैदिक साहित्य में भी अलंकृत शैली के प्रयोग के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। लौकिक साहित्य में भी विशेषत: संस्कृत के कालिदास और उनके परवर्ती कवियों में इस प्रवृत्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। भारवि, माघ और श्रीहर्ष के प्रबंधकाव्य तो इसके प्रमाण हैं ही। मुक्तकों में भर्तृहरि, अमरूक, गोवर्द्धनाचार्य आदि के शतकों एवं सप्तशतियों में भी अलंकृत शैली ही अपनाई गई, स्तोत्र साहित्य भी निरलंकृत नहीं है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि लोकोन्मुख काव्यों में स्वाभाविक उक्तियाँ अधिक हैं वक्रतापूर्ण कम फिर भी उनमें अलंकृत शैली पाई जाती है। समाज में जैसे-जैसे प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती गई अलंकृत शैली का विकास होता गया। अभिव्यंग्य भाव या रस और अभिव्यंजना शैली-अलंकारादि को अलग-अलग नहीं माना जा सकता। पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है, "साहित्य-संसार में कविता के साथ अलंकारों का वही संबंध है जो कामिनी और उसके सौंदर्य में पाया जाता है।" उन्होंने भाव और अलंकार को दूध-पानी की तरह अभिन्न माना है।

रीतिकालीन कविता में अलंकरण वृत्ति की अधिकता का प्रमुख कारण यह है कि इन कवियों ने अलंकारों के स्वरूप और उसके प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया। काव्यशास्त्र-विवेचन में अलंकारों की स्वीकृति भरत मुनि के ही समय से थी। संस्कृत में अलंकार संप्रदाय की प्रमुखता बहुत दिनों तक थी। हिंदी में उस परंपरा की प्रतिष्ठा सर्वप्रथम आचार्य केशव ने **'भूषन बिन न विराजई कविता, बनिता, मित्त'** कहकर की थी। रीतिकाल में संस्कृत के विभिन्न काव्यशास्त्रीय संप्रदायों में से रसवाद और अलंकारवाद की ही व्यापक स्वीकृति हुई।

रीतिकालीन कविता राजदरबारों में संवर्द्धित हुई। तत्कालीन सम्राटों और सामंतों में अलंकरण के प्रति विशेष आकर्षण पाया जाता था। चित्रकला, स्थापत्यकला, संगीतकला में अलंकृत शैली का प्रवेश बहुत पहले से हो चुका था। वैभव प्रदर्शन के लिए जिस प्रकार स्थूल अलंकारों का प्रयोग सामंत वर्ग करता था उसी प्रकार अपने बुद्धि वैभव के प्रकाशन हेतु कवि लोकातिशायिनी उक्ति का प्रयोग करते थे। मुक्तक शैली को ग्रहण करने के कारण उचित-चमत्कार को और भी अधिक महत्त्व मिला। दूर की कौड़ी लाने का प्रयास फारसी काव्य में अधिक था उसकी स्पर्द्धा में हिंदी काव्य भी अतिशयोक्ति अत्युक्ति से परिपूर्ण हो गया। देखा जाए तो श्रृंगारिकता और अलंकरण बहुत कुछ एक दूसरे के पूरक के रूप में भारतीय साहित्य में सदा से प्राप्त होते रहे हैं। लेकिन विलासिता और मनोरंजन के लिए अलंकरण एक अनिवार्य उपादान के रूप में रीतिकालीन कविता में ही स्वीकृत हुआ।

10.4.4 रीति काव्य में वीर और प्रशस्ति के भाव

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में विभिन्न काव्यांगों के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे संस्कृत, प्राकृत के प्रबंध मुक्तकों के श्लोकों से लिए गए हैं। इन श्लोकों-गाथाओं में अधिकांश श्रृंगारिक हैं लेकिन कुछ वीर, भक्ति, वैराग्य और नीतिपरक भी हैं। इससे शास्त्र विवेचन की एकरसता समाप्त होती है और भिन्न-भिन्न रुचियों का परिपोष भी होता है। रीतिकालीन कवि-आचार्यों के रीति-निरूपण में उक्त पद्धति को आधार के रूप में स्वीकार किया है। रीति काव्य में रीति-निरूपण, श्रृंगारिकता और अलंकरण की प्रवृत्ति मुख्य है शेष गौण।

वीर व्यक्ति के शौर्य की प्रशंसा प्राचीन काल से होती आई है। वीरता के प्रदर्शन गृह-कलह और राज-कलह दोनों में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त देव काव्यों में राम, कृष्ण, शिव आदि के साथ चण्डी या दुर्गा के वीर-कार्यों का वर्णन महाभारत आदि पुराणों में प्राप्त होते हैं। इनका वर्णन प्रबंध और मुक्तक दोनों रूपों में प्राप्त होता है। रीतिकाल के कवियों ने वीरता का वर्णन नराशंसी काव्यों और पौराणिक देवी-देवताओं से संबद्ध काव्यों में किया है।

विक्रम की दसवीं शती से पश्चिमोत्तर प्रान्त से विदेशियों के आक्रमण प्रारंभ हो गए थे जो रीतिकाल तक अनवरत चलते रहे। राजपूत स्वभावत: वीर, देशभक्त और स्वाभिमानी होते थे, जो जी-जान से इन आक्रांताओं का मुकाबला करते थे किन्तु आपस की फूट या स्वार्थी तत्त्वों की सक्रियता से उन्हें पराजय का भी मुँह देखना पड़ता था। इसके अनेक उदाहरण इतिहास ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। रीतिकाल में आदिकालीन राष्ट्राभिमानी योद्धाओं की पीढ़ी समाप्त हो गई थी। महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल जैसे कुछ ही वीर पुरुष रह गए थे। महाराणा प्रताप आदि हिंदू नरेशों के वीर-कर्म का वर्णन करने वाले ग्रंथ आज प्रभूत मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं इसका एक कारण विदेशी शासकों का आतंक हो सकता है। फिर भी, शिवाजी और छत्रसाल की वीरता का वर्णन 'भूषण' आदि कवियों ने किया है। शिवाजी और छत्रसाल ने राष्ट्र-विरोधी और धर्मांध शासकों से अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए युद्ध किया था। अत: वे सच्चे जन-नायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए जबकि रीतिकाल के अधिकांश कवि परंपरा पालन के लिए अपने विलासी और स्वार्थी आश्रयदाताओं की प्रशस्ति लिख दिया करते थे। आचार्य केशव दास ने 'रतन बावनी', 'वीर सिंह देव चरित' और 'जहाँगीर जस चंद्रिका' में वीर-प्रशस्ति की काव्य-परंपरा का निर्वाह किया था। भूषण में वीर रस का जो ओजपूर्ण प्रवाह है वह लोकनायक शिवाजी के चारित्रिक गरिमा के कारण अद्वितीय है। मान के 'राजविलास' लाल कवि के 'छत्रप्रकाश', सूदन के 'सुजान चरित' पद्माकर के 'हिम्मत बहादुर विरुदावली,' 'प्रताप विरुदावली,' जोधराज के 'हम्मीर रासो' में अपने-अपने चरित नायकों की वीरता की प्रशंसा की गई है।

रीतिकाल में विलासिता और आत्मश्लाघा की वृत्ति प्रधान थी अत: जो वीर काव्य लिखे गए उनमें कवि की आंतरिक ऊर्जा का उपयोग कम ही हुआ है। यही कारण है कि इनमें पृथ्वीराज रासो की ऊर्जस्वित शैली के दर्शन नहीं होते।

10.4.5 भक्तिपरक वर्णन का आधार

भारतीय साहित्य में दसवीं-ग्यारहवीं शती से भक्ति आंदोलन पूरे वेग से प्रवर्तित हुआ। हिन्दी में भी आदिकाल से ही कुछ भक्तिपरक उक्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं। भक्तिकाल में राम, कृष्ण, सूफी और संत काव्यों में भक्ति की उदात्त भावना का ऐसा प्रवाह आया कि हिन्दी साहित्य का वह स्वर्ण युग बन गया। वह समय ऐसा था जब देश में समन्वय की भावना प्रबल थी। मानवीय मूल्यों की जैसी स्थापना इन काव्यों में प्राप्त होती है वह कालांतर क्षीण हो गई। इसका मूल कारण है कवियों का लोक जीवन से विमुख होकर सामंतों के प्रभाव में आ जाना।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में भी देव विषयक रति के वर्णन में भक्ति भाव की दृढ़ता दृष्टिगत होती है। अपने इष्टदेव के ऐश्वर्य सामर्थ्य का वर्णन करना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसी के परिणामस्वरूप रीतिकालीन कवियों ने भी भक्ति के छंदों की रचना की। किन्तु इनमें वह निष्ठा और समर्पण का भाव नहीं पाया जाता जो भक्त कवियों के साहित्य में उपलंब्ध है। भक्त कवियों की जीवन-साधना आध्यात्मिक उन्नति के लिए थी किन्तु रीतिकवियों में भक्ति भावना सामान्य आस्थावादी भारतीय की मानसिकता को प्रकट करती है।

10.4.6 नीति और वैराग्यपरक कविता का आधार

रीतिकालीन रीतिकवियों ने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमियों के दबाव या संघात से जैसी मानसिक अवस्था प्राप्त की थी उसमें भक्ति की ही तरह वैराग्य भाव सहज संभूत था। काव्य का उद्देश्य मनोरंजन के अतिरिक्त 'कान्तासम्मित उपदेश' देना भी माना गया है। रीतिकवियों ने अपने

जीवनानुभवों को इन नीति और वैराग्यमूलक उक्तियों में निबद्ध किया है। नीति की ये उक्तियाँ लोक-यात्रा को सुगम और सफल बनाने के लिए चिरकाल से उपयोगी मानी जाती रही हैं। ऐसे मुक्तकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी में वे अन्योक्तियाँ ली जा सकती हैं जिनमें भ्रमर, कोकिल, काग आदि के व्याज से उपदेश दिए जाते हैं। दूसरी श्रेणी उन मुक्तकों की है जिनमें सरल शैली में व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी गई है। तीसरी श्रेणी उन मुक्तकों की है जिनमें संसार को माया का प्रसार मानकर विरक्ति की शिक्षा दी गई है।

नीति-वैराग्य की सूक्तियाँ महाभारत, पुराणों, महाकाव्यों और मुक्तकों में प्राचीन काल से प्राप्त होती रही हैं। भक्तिकाल में धार्मिक वृत्ति प्रधान होने के कारण व्यापक धर्म को व्यावहारिक जीवन में आचरण का अंग बनाने का प्रयास संतों ने विशेष रूप से किया है। कबीर, रहीम और तुलसी के स्वर में जीवनानुभवों की जो ऊष्मा और तीव्रता है वह रीतिकालीन कवियों यथा बिहारी, रसनिधि, भड्डरी, बैताल, छत्रसाल, वृंद, गिरिधर दास, दीनदयाल गिरि आदि में प्राप्त नहीं होती। इनकी उक्तियाँ प्रायः परंपरित और संस्कृत-सूक्तियों पर आधारित लगती हैं।

10.4.7 रीतिकालीन काव्य भाषा का आधार

रीतिकाल में जिस प्रकार काव्य के वर्ण्य विषय पूर्ववर्ती भक्तिकाल से लिए गए उसी प्रकार काव्य भाषा-ब्रजभाषा भी ली गई। रीतिकाल को डॉ.रसाल ने 'कलाकाल' कहा है। उनका कथन इस दृष्टि से उपयुक्त है कि इसी काल में भाषा-शैली को कलात्मक सज्जा प्रदान की गई। पं.विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शुद्ध साहित्य की रचना की दृष्टि से इसे 'अनारोपित काव्यकाल' कहा है और डॉ.नगेन्द्र के कथन से भी इसी बात की पुष्टि होती है। वस्तुतः मुगल दरबार में कलात्मक अभिव्यक्ति को विशेष गौरव प्राप्त था। यही स्थिति देशी राज-दरबारों की थी। वहाँ के दास-दासी भी अलंकृत शैली का प्रयोग करते थे। ऐसी स्थिति में कवियों की शिल्प संबंधी सजगता स्वाभाविक थी।

रीतिकाव्य की भाषा मूलतः ब्रजी थी। किन्तु उसमें अन्य भाषाओं के शब्दों का ग्रहण उदारतापूर्वक किया गया। इसका कारण यह है कि चिरकाल से मध्यदेश की भाषा ही उत्तर भारत की साहित्य-भाषा बनी हुई थी। शौरसेनी प्राकृत में प्रभूत साहित्य की रचना हुई। शौरसेनी अपभ्रंश का विस्तार पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में गुजरात तक उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र तक हुआ। अतः इस युग के साहित्य में शौरसेनी की बेटी ब्रजभाषा में गुजराती, पंजाबी, मैथिली, अवधी, बुंदेलखंडी, खड़ी बोली और संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, अरबी-फारसी में शब्दों का मुक्त रूप से प्रयोग पाया जाता है।

यह कहना उचित नहीं कि रीतिकाल में काव्य शिल्प का संकुचन हुआ। भक्तिकाल की अपेक्षा रीतिकाल में ब्रजभाषा का शब्द-भंडार अधिक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण हुआ। आचार्य भिखारी दास ने 'तुलसी-गंग' के विविध भाषा-प्रयोग की चर्चा की है पर रीतिकाल के कवियों की भाषा भी गुण की दृष्टि से किसी से कम नहीं हैं। आचार्य शुक्ल ने तत्कालीन भाषा के व्याकरण सम्मत और परिमार्जित न होने की बात कही है। यह सत्य है कि उस समय भी शब्द-रूप, क्रिया-प्रयोग, वाक्य-विन्यास में त्रुटियाँ प्राप्त होती हैं पर उन्होंने ही मतिराम, बिहारी, पद्माकर और घनानंद की भाषा और शैली की प्रशंसा भी की है। घनानंद की भाषा-शैली की प्रशंसा पं.विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी विस्तार से की है। त्रुटिपूर्ण और असमर्थ भाषा के द्वारा भावों की समर्थ अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। रीतिकाल के कवि मतिराम, देव, बिहारी, घनानंद और पद्माकर जैसे रससिद्ध कवियों ने सवैया, कवित्त और दोहा छंदों में जिस प्रकार प्रौढ़ और प्रांजल भाषा का प्रयोग किया है उसके समक्ष भक्तिकाल के शीर्षस्थ कवि तुलसी की पदावली अनगढ़-सी लगती है। रीतिकाव्य की रचना जिस वातावरण में हो रही थी, उसमें फारसी काव्य का विशेष सम्मान था। अतः रीतिकवियों ने केवल उनके शब्दों को ही ग्रहण नहीं किया अपितु शैली को भी ले लिया। जिसके परिणामस्वरूप अनेक कवियों पर दूर की कौड़ी लाने, अरुचिकर और अश्लील वर्णन करने का आरोप किया गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भाषा और अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से रीतिकाव्य की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए भारतेंदु युग तक इसका वर्चस्व बना रहा।

10.5 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप रीतिकालीन कविता के गठन की पृष्ठभूमि को समझ गए होंगे। रीतिकालीन कविता किन मानसिक दशा के बीच स्थान ग्रहण करती है, इसकी जानकारी भी आपको प्राप्त हुई होगी। वस्तुतः रीतिकाल की कविता सामंती समाज के बीच पनपी थी। सामंती मनोवृत्ति और शास्त्रीयता का अद्भुत संयोग रीतिकाव्य में देखने को मिलता है। चमत्कार प्रदर्शन, शृंगार और सौंदर्य रीतिकाव्य के प्रमुख बिंदु हैं। सामंतों ने इन्हीं प्रवृत्तियों को फलने-फूलने में मदद की। रीति काल में मात्र शृंगारिक कविता ही नहीं रची जा रही थी। विविध प्रकार से भक्ति, वैराग्य, वीरता और प्रशस्ति के पद भी रचे जा रहे थे। इन सबकी रचना का आधार क्या था इसकी जानकारी भी इस इकाई में आपको दी गई।

10.6 प्रश्न/अभ्यास

1. रीतिकालीन कविता दरबारी काव्य परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है, स्पष्ट कीजिए।
2. रीतिकालीन ऐतिहासिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि से रीतिकाव्य किस सीमा तक प्रभावित हुआ?
3. रीतिकालीन कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों का आधार क्या था? विवेचन कीजिए।
4. रीतिकालीन काव्य की भाषा पर प्रकाश डालिए।

इकाई 11 रीतिकालीन कविता का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

यह इकाई रीतिकालीन साहित्य के स्वरूप पर आधारित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कवियों तथा उनकी कृतियों का परिचय दे सकेंगे;
- रीतिकाल के साहित्य के तीनों वर्गों के कवियों के साहित्य की विशेषताएँ बता सकेंगे;
- रीतिकालीन श्रृंगारेतर काव्य के अंतर्गत आने वाले भक्ति, नीति, वैराग्य तथा प्रशस्ति काव्य की चर्चा कर सकेंगे;
- रीतिकालीन कवियों के भाषा सौन्दर्य और शिल्प की जानकारी दे सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल एक कालखंड है। रीति शब्द का जो अभिप्राय हमें संस्कृत साहित्य में मिलता है, उस शब्द का समान अभिप्राय हिन्दी साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं है। संस्कृत साहित्य में अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्यशास्त्रीय चिंतन के पहलू हैं। अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद इत्यादि काव्यशास्त्रीय चिंतन की सुदृढ़ प्रणाली हैं। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में जितने भी रीतिग्रंथ मिलते हैं उनमें कवियों का उद्देश्य भिन्न है। इन रीति ग्रंथों के कवियों का उद्देश्य काव्यांगों का शास्त्रीय विवेचन करना नहीं था। उनका मुख्य उद्देश्य कविता करना था। कविता के प्रति उनका दृष्टिकोण भी बहुत सीमित था। कवि अर्थोपार्जन के लिए कविता करते थे। सामंतों का दरबार उनकी कविता का मुक्त बाज़ार था। सामंतों की रुचि का ख्याल रखना और उनका मनोरंजन करना कवियों के लिए महत्वपूर्ण हो गया। इस कार्य के लिए कवियों ने तीन प्रकार से शास्त्र का सहारा लिया। प्रेम-क्रीड़ाओं से संबंधित काम शास्त्र, उक्ति वैचित्र्य से संबंधित अलंकार शास्त्र और नायक नायिका के स्वभाव का वर्णन करने वाले रस शास्त्र को कवियों ने अपना आधार बनाया।

काव्यशास्त्र-विवेचन हिन्दी में भी काफी पुराना है। सत्रहवीं शती के प्रारंभ में कृपाराम की 'हितरंगिणी' की रचना को विद्वानों ने आमान्य तो ठहरा दिया लेकिन उसी में उसकी एक निश्चित परंपरा का संकेत है जो कभी समाप्त नहीं हुई। ऐसा हो सकता है कि आदिकाल में सामंत युद्धों में व्यस्त थे और संत सामान्य जन

में आध्यात्मिक चेतना जगाने और अपने मत के प्रचार में डूबे हुए थे। अत: उस समय कविता वीरों में युद्धोन्माद और लोक में अलौकिक शक्तियों के प्रति आकर्षण उन्पन्न करने का साधन बनी। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, लेखक आचार्य रामचंद्र शुक्ल) भक्तिकाल में कविता आराध्य देवों के गुणगान का सशक्त माध्यम बनी। दूसरी ओर बाह्याडंबर के विरोध में और प्रेम के वास्तविक रूप के उद्‌घाटन में ही संतों - सूफियों ने उसकी सार्थकता मानी। इस धार्मिक - आध्यात्मिक प्रवाह में तथा आगे चलकर रीतिकाल में हिन्दी कविता का स्वरूप बदलता रहा। रीतिकाल तक आते-आते कविता का विषय श्रृंगार हो गया। इस युग में भक्ति गौण और श्रृंगारिकता प्रमुख हो गई।

इस इकाई में हम रीतिकालीन कविता के स्वरूप की विस्तार से चर्चा करेंगे।

रीतिकाल में जो कविता प्राप्त होती है उसके कर्त्ता मुख्यत: तीन वर्गों में विभक्त किए गए हैं, फलत: इन वर्गों में विभक्त करके ही रीतिकालीन काव्य के स्वरूप का परिचय दिया जा सकता है। ये वर्ग हैं :

1. रीतिबद्ध 2. रीतिसिद्ध और 3. रीतिमुक्त

11.2 रीतिबद्ध काव्य

रीतिबद्ध काव्य मुख्यत: शास्त्रीय स्वरूप के उद्‌घाटन में नियोजित था। जिसके परिणाम स्वरूप उसमें विभिन्न काव्यरीतियों का बंधन पाया जाता है। कवि को अपनी भावना के प्रसार के लिए व्यापक भूमि नहीं मिली। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में रीतिकाल पर चर्चा करते हुए लिखा है : "वाग्धारा बँधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस - सिक्त होकर सामने आने से रह गए।" शुक्लजी की मर्यादावादी दृष्टि समग्रजीवन के विविध भावों का पूर्ण उत्कर्ष रीतिकाव्य में न पाकर, इसे वासनात्मक और चमत्कार प्रधान एवम् रूढ़िग्रस्त मानती है किन्तु श्रृंगार रस के कोमल - ललित भावों का अपूर्व भंडार भी घोषित करती है। वस्तुत: रीतिबद्ध कविता में शास्त्रीयता और श्रृंगारिकता का अद्‌भुत संयोग देखने को मिलता है। इस काव्य प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में दरबारी मानसिकता कार्यरत थी। दरबार में कविता को संगीत और नृत्य की तरह मनोरंजन का साधन समझा जाने लगा। सामंत का मनोरंजन कविता का उद्देश्य हो गया। सामंत की रुचि का महत्त्व काव्य-प्रवृत्ति का रुझान बन गया। सामंत की रुचि श्रृंगार रस से पूर्ण छंद में तथा सामान्य शास्त्रीय जानकारी तक सीमित थी। इसलिए रीतिबद्ध काव्य में चमत्कार की प्रमुखता हो गई जिससे आश्रयदाताओं को चौंकाया जा सके। इस चमत्कार के फलस्वरूप रीतिबद्ध काव्य में वाग्वैदग्ध्यता, सघनता, लघुता और श्रृंगारिक उत्तेजना का प्रसार मिलता है।

रीतिकाल में काव्यशास्त्र - विवेचन का लक्ष्य दूसरा था। ये संस्कृत के आचार्यों की तरह बौद्धिक विश्लेषण में रुचि न ले सके क्योंकि इन्हें तो सामान्य रसिक सामन्तों को हिन्दी भाषा के माध्यम से काव्यशास्त्र का साधारण ज्ञान कराना और रमणीय उदाहरणों के द्वारा उनका मनोरंजन करना था। ये आचार्य - कर्म के बहाने अपने काव्य कौशल का प्रदर्शन करना चाहते थे। इसीलिए इन्हें न तो संस्कृत के उद्‌भावक आचार्य की तरह नवीन सिद्धांतों की स्थापना करनी थी, न व्याख्याता आचार्यों की तरह स्थापित सिद्धांतों की तर्कपूर्ण शैली में व्याख्या ही करनी थी। ये मूलत: कवि-शिक्षक थे। "अत: लक्षणों के वेष्ठन में वेष्ठित करके कोमल - मादक मनोभावों को प्रस्तुत करना ही इनका लक्ष्य था जिसमें इन्हें पर्याप्त सफलता मिली।" (हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, ले. डॉ.बच्चन सिंह) इस वर्ग में आने वाले कुछ प्रमुख कवि-आचार्यों तथा उनके साहित्य का परिचय हम यहाँ उदाहरण के रूप में दे रहे हैं।

आचार्य केशवदास (सन् 1560-1601 ई.)

इनकी चर्चा साहित्य के इतिहासकारों ने भक्तिकाल के फुटकल कवियों में की है। किन्तु बिना केशवदास का श्रद्धापूर्वक स्मरण किए हिंदी रीति साहित्य की भूमिका का प्रारंभ कोई न कर सका। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं - "केशव की रचना में इनके तीन रूप दिखाई देते हैं - आचार्य का, महाकवि का और इतिहासकार का। ये परमार्थत: हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं। .... इन्होंने ही हिन्दी में संस्कृत की परंपरा की व्यवस्थापूर्वक स्थापना की थी।" डॉ.भगीरथ मिश्र ने भी विश्वनाथ जी के इस कथन का

समर्थन किया है। आचार्य शुक्ल ने केशव की सहृदयता पर आक्षेप करते हुए इनकी कविता में दुरूहता और अस्पष्टता का सविस्तार उल्लेख किया है। डॉ. जगदीश गुप्त ने भी कहा है कि 'सुबरन' की खोज में तथा कवि रूढ़ियों के निर्वाह में तल्लीन उनकी काव्य चेतना कवि-सुलभ रागात्मक तारतम्य और सहज सौंदर्य बोध से प्राय: वंचित रह गई है। इन्होंने मुक्तक और प्रबंध दोनों काव्य रूपों में अनेक काव्यों की रचना की - उदाहरण के रूप में रस (रसिकप्रिया), अलंकार (कविप्रिया) छंद और भक्ति (रामचंद्रिका, छंदमाला), वीर-प्रशस्तिकाव्य (वीर सिंह देवचरित, जहाँगीर जस चन्द्रिका, रतन बावनी), वैराग्य (विज्ञानगीता) आदि को लिया जा सकता है।

रीतिकालीन कविता के लिए एक विशेष मानसिक वातावरण के निर्माण में इनका योगदान मूल्यवान है यद्यपि इनमें सहृदयता और निर्मल शास्त्र ज्ञान का अभाव माना जाता है फिर भी, रीतिकालीन कविता की सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व केशव का साहित्य करता है। केशव की कविता में शास्त्रीय विवेचन की सामग्री मिलती है। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' शास्त्रीय ग्रंथ हैं। ये दोनों ग्रंथ रीतिकाल के आधारभूत लक्षण ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों की विषयवस्तु का विवेचन करना अनिवार्य होगा। 'रसिकप्रिया' में नायिका भेद का वर्णन है। कामशास्त्र के अनुसार, विभिन्न उम्र के अनुसार आदि कई प्रकारों से नायिका भेद का विवेचन किया गया है। अमीर और सामंत सुविधाभोगी वर्ग थे। सामंत अपनी हैसियत के अनुसार हरम में रानियों को रखते थे। रानी का मुख्य कार्य सामंत पति को रिझाना होता था। शास्त्र ने नायिका भेद को रचकर उपयुक्त नारी पात्र को सामंत के सामने प्रस्तुत होने का विधान बनाया। नायिका भेद की रचना की उपयोगिता विशुद्ध भोग-विलास के लिए थी। उसका जन सामान्य से कोई सीधा तात्पर्य नहीं था। नायिका भेद का सूत्र शृंगारिक मनोभाव से जुड़ा हुआ था।

> मोहिबो मोहन की गति को, गति ही पढ़ै बैन कहाँ धौ पढ़ैगी।
> ओप उरोजन की उपजै दिन काई मढ़ै अँगिया न मढ़ैगी।
> नैनन की गति गूढ़ चलाचल केशवदास अकाश चढ़ैगी।
> माई! कहाँ यह माइगी दीपति जो दिन द्वै इहि भाँति बढ़ैगी।

कविप्रिया की रचना केशव ने अपनी साहित्य शिष्या प्रवीणराय के लिए की थी। प्रवीणराय केशव के आश्रयदाता इंद्रजीत सिंह के दरबार की गणिका थी। कविप्रिया में 16 प्रभावों का वर्णन है। काव्य रचना में उपयोगी अनेक बातों का विवरण दिया गया है। अलंकार के अनेक प्रकार के अतिरिक्त नख शिख वर्णन, बारहमासा, ऋतृवर्णन तथा होली आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। वे सभी काव्य रूढ़ियाँ जिनका परिपालन संस्कृत काव्य में हुआ करता था, केशव ने इन्हें भाषा काव्य में कहने का साहस दिखाया। नायिका के रूप-वर्णन में केशव की कला को देखा जा सकता है।

> गोरो गात पातरी न लोचन समात मुख,
> उर उरजातन की बात अवरोहिये।
> हँसति कहति बात फूल से झरत जात,
> ओठ अवदात राती रेख मन मोहिये।
> श्यामल कपूर धूरि की ओढ़नी ओढ़े उड़ि,
> धूरि ऐसी लागी कैसौ उपमा न टोहिये।
> काम की दुल्ही सी काके कुल उलही,
> सु लहलही ललित लता सी लाल सोहिये।

मतिराम

मतिराम रीतिकाल के विशिष्टांग (रस, अलंकार, छंद) - निरूपक आचार्यों में प्रमुख थे। इन्होंने भानुमिश्र के रस और नायिका भेद के लक्षणों का आधार लेकर 'रसराज' नामक प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ की रचना की। इन्होंने दोहों में लक्षण और सरस सवैयों - कवित्तों में उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इनका ग्रंथ 'ललितललाम'

प्रसिद्ध अलंकार - निरूपक ग्रंथ 'कुवलयानंद' के आधार पर निर्मित है। इसके उदाहरण - भाग में राजा भावसिंह हाड़ा की प्रशस्ति पाई जाती है। छंदो-निरूपक ग्रंथ 'छंदसार' शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनकी 'सतसई' में 703 दोहे हैं जिनमें पूर्व निर्मित ग्रंथों के भी दोहे संगृहीत हैं। सतसई के अंत में आश्रयदाता भोगनाथ की प्रशंसा की गई है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "मतिराम की-सी स्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है। भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ।" वास्तव में इनकी प्रसिद्धि का मूल कारण इनके द्वारा दिए गए उदाहरणों की स्वाभाविक सरसता ही है। मतिराम के काव्य में स्वाभाविकता है। रीतिकाल के अन्य कवियों की तरह उन्होंने वैचित्र्य को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है। रीति काल की परिपाटी का पालन करते हुए भी वे रूढ़ियों से मुक्त हैं। उनकी कविता में नायिका के रूप वर्णन अथवा कार्य व्यापार के जो चित्र मिलते हैं, उसमें गृहस्थ जीवन की झलक मिलती है। नवविवाहिता नायिका के लज्जापूर्ण सौन्दर्य की मोहक छवि को इस पद में देखा जा सकता है-

गौने के द्यौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गन आयो।
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास जनायो।
पीतम सौन समीप सदा बजैं यो कहिकै पहिले पहिरायो।
कामनि कौंल चलावन कौं कर ऊँचो कियो पै चल्यौ न चलायौ।।

मतिराम ने लोकजीवन के शृंगारिक भाव को कविता की विषयवस्तु बनाया। इसलिए रूप और सौन्दर्य के चित्र को भी लोकजीवन से ही उठाने का प्रयास किया । नायिका की विभिन्न चेष्टाओं और दशाओं के लिए उन्होंने किसी भी काव्य रूढ़ि को नहीं अपनाया है। भाव के मनोविज्ञान को परखकर वे नायिका की भंगिमा को निर्धारित करते थे। रूप और प्रेम से भरे इस पद को देखिए। इस पद में नायिका की आँख में मादकता है और चित्त में चंचलता है।

कुंदन को रंग फीको लगै झलकै असि अंगन चारु गुराई।
आँखनि में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नीरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई।।

भूषण

भूषण शिवाजी के समकालीन थे और उन्होंने शिवाजी तथा छत्रसाल दोनों का आश्रय ग्रहण किया। **शिवराज भूषण, शिवा बामनी** और **छत्रसाल दशक** इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रीतिकाल की सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य - प्रवृत्ति - शृंगारिकता की उपेक्षा करते हुए इन्होंने अपने प्रसिद्ध अलंकार-निरूपक ग्रंथ 'शिवराजभूषण' में वीर प्रशस्तिपरक उदाहरणों की रचना की है। इसमें '**मतिराम के ललितललाम**' के 100 अलंकारों के अतिरिक्त 5 शब्दालंकारों का भी समावेश किया गया है। पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने सही संकेत किया है कि परंपरा के फेर में हिन्दी के कितने ही कवियों का सच्चा और उत्कृष्ट रूप निखरने नहीं पाया। अलंकारों के बोझ से वीर रस दब गया। .... भूषण के लक्षण कई स्थानों पर अस्पष्ट और भ्रामक हैं। .... भूषण को काव्यरीति का अच्छा अभ्यास न था। (भूषण-आ.विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) डॉ. महेन्द्र कुमार का मानना है कि भूषण के काव्य में वीर रस की व्यंजना के स्थान पर राजविषयक रति का ही परिपाक हुआ है क्योंकि "वाणी के ओज पर पूर्ण दृष्टि रहने के कारण सामान्य रूप से ये उन तत्त्वों का निर्वाह नहीं कर पाए जिनसे वीर-रस का परिपाक होता है - कर्म के प्रति आश्रय की ललक तथा अभीष्ट सिद्धि के लिए व्यापार शृंखला में उत्तरोत्तर आनंदप्राप्ति की व्यंजना का अभाव इनकी अनुभाव योजना को शिथिल कर गया है।"

इनके दो मुक्तक ग्रंथ 'शिवाबावनी' और छत्रसाल दशक' में इनका कविरूप अधिक उभर सका है। वीर रस के साथ-साथ अद्भुत, भयानक, वीभत्स और रौद्र भी इसमें व्यंजित हुए हैं। इनके 'भूषण उल्लास',

'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा' भी यदि उपलब्ध हो जाते तो इन्हें संभवत: आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा मिल सकती थी। भूषण की सभी रचनाएँ मुक्तक हैं। इनकी साहित्यिक भाषा ब्रज है। रीतिकार के रूप में चाहे इन्हें सफलता न मिली हो परन्तु कवित्व की दृष्टि से इनका प्रमुख स्थान है।

'भूषण' वास्तव में इनका नाम नहीं बल्कि उपाधि है जो इन्हें चित्रकूट के नरेश सोलंकी हृदयराम के पुत्र रुद्र ने प्रदान की थी। भूषण की कविता में ओज है। वे वीर रस के कवि थे। ओज वीर रस की कविता का स्थायी भाव है। ओज ने उनकी कविता में आवेग को भरा। यह आवेग उन्हें सामाजिक जीवन से मिला था। सामाजिक जीवन की परिस्थिति की माँग युद्ध और आक्रमण था। युद्ध और आक्रमण की कविता के लिए जिस प्रकार से भाव का संगठन काव्य में होना चाहिए उसी प्रकार का भाव भूषण की कविता में मिलता है। भूषण के छंद में आवेग और अनुभूति की एकता है।

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर
        रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर संभु रतिनाह पर,
        ज्यों सहसाबाहु पर राम द्विजराज हैं।।
दावा द्रुमदंड पर चीता मृगझुंड पर,
        भूषण बितंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
        ज्यों मलेच्छ बंस पर सेर, सिवराज हैं।।

पूरे पद को पढ़ने के बाद यह पता लगता है कि कवि अत्याचारी के खिलाफ खड़ा है। कविता में आक्रोश का भाव है। कवि आश्रयदाता में प्रतिपक्षी के प्रति आक्रोश भरता है। यह आक्रोश दमन के विरुद्ध है। भूषण की चिंता के केन्द्र में सामाजिक अव्यवस्था और पतनोन्मुखता है। वीर रस की कविता डिंगल में ही हो सकती है, इस मिथक को भूषण ने तोड़ दिया। काव्य साहित्य के इतिहास में यह भूषण का मौलिक योगदान है।

देव

रीतिकालीन सर्वांगनिरूपक आचार्यों में देव का स्थान महत्वपूर्ण है। बिहारी या भूषण की तरह इन्हें कोई ऐसा आश्रयदाता न मिल सका जो इन्हें पूर्णत: संतुष्ट कर सकता। अत: जीवनभर इन्हें अनेक छोटे बड़े दरबारों के चक्कर लगाने पड़े। संभवत: यही कारण है कि उन्हें अपने पुराने छंदों में कुछ नए जोड़ कर अनेक ग्रंथों का निर्माण करना पड़ा। इनके ग्रंथों की संख्या 72 बताई गई है पर अभी तक 25 ग्रंथ ही उपलब्ध हुए हैं। इनमें से 'हिंदी साहित्य के वृहत इतिहास' में केवल 18 ग्रंथों का उल्लेख है। प्रेमचंद्रिका, रागरत्नाकर, देवशतक, देवचरित्र और देवमायाप्रपंच को छोड़कर शेष काव्य शास्त्रीय हैं। इनके विवरणों में न जाकर सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि 'प्रेमचंद्रिका' में वासना रहित प्रेम का महत्त्व प्रतिपादित है। इस कृति में प्रेमस्वरूप, प्रेममहात्म्य आदि विषयों को ललित शैली में वर्णित किया गया है। **'रागरत्नाकर'** में संगीत विषयक चर्चा है। देव शतक अंतिम दिनों की रचना होने के कारण वैराग्य परक है। इसमें कवि ने दार्शनिक भावनाओं को पूर्ण अनुभूति के साथ अंकित किया है। **'देवचरित्र'** श्रीकृष्ण के चरित्र पर आधारित प्रबंध काव्य है। **'देवमाया प्रपंच'** संस्कृत के **'प्रबोधचंद्रोदय'** का पद्यमय अनुवाद है। काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में **भावविलास** रस, नायिका भेद और अलंकार निरूपक ग्रंथ है। **'शब्दरसायन'** में काव्यांगों की चर्चा है। **'सुखसागर तरंग'** भी काव्यांगों पर लिखित उदाहरणों का संग्रह है। **'अष्टयाम'** अपने नाम से ही वर्ण्यवस्तु का संकेत देता है। इन्होंने श्रृंगार को मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है आचार्य शुक्ल ने त्रुटिपूर्ण भाषा होने पर भी भाव - निर्वाह में इन्हें सफल माना है। यद्यपि इन्होंने ज्ञान-वैराग्य और भक्ति विषयक काव्य रचना भी की है पर सफलता इन्हें श्रृंगारिक रचनाओं में ही मिली। डॉ.जगदीश गुप्त का मत है कि देव भी कवित्वप्रधान आचार्यत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्होंने भाषा के

सौष्ठव, समृद्धि और अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया है। देव आचार्य और कवि थे। देव के काव्य में मानव मनोभाव का अत्यंत सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषण किया गया है। मनोभाव का सजीव चित्र उनके काव्य में मिलता है। प्रेम भाव में मन:स्थिति की चंचलता का बड़ा ही रमणीय चित्र इस पद में प्रस्तुत हुआ है।

मूरति जो मनमोहन की मनमोहिनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
देव गोपाल को बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं नैनहिं लाज घटा, घिरकी सी।।
पूरन प्रीति हियै हिरकी खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी सी।।

देव की कविता में मात्र संयोग श्रृंगार का मनोरम वर्णन नहीं है, उनके साहित्य में वियोग की करुणा का हृदयविदारक दृश्य भी मिलता है। सौंदर्य वर्णन में उनकी प्रतिभा बेजोड़ है। भाववर्णन का प्रसंग हो, रूपवर्णन का प्रसंग हो अथवा चेष्टा का वर्णन हो, कवि देव, बिंब योजना के माध्यम से उसे कविता में प्रकट करते हैं। बिम्ब विधान के माध्यम से कवि कविता में प्रेम, मिलन, रागानुभूति के अनुभव को बड़े ही सघन रूप में रखते हैं। देव की कविता में छंद की गति, शब्द की वर्णमैत्री और सरसता नाद सौंदर्य को पुष्ट करते प्रतीत होते हैं। अपनी तकनीकी विशेषता और भाव की सरसता के कारण देव की कविता रीतियुग की प्रतिनिधि कविता बन जाती है।

माखन सों मन दूध सों जीवन है दधि सों अधिकौ उरई ठी।
जा छबि आगे सुधाकर छोंछि समेत सुधा बसुधा सब मीठी।
नैनन नेह चुवै कहि 'देव' बुझावत बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहौ क्यौं न लगै मनमोहनै मीठी।।

भिखारीदास

इन्हें सर्वांग-निरूपक आचार्यों में प्रमुख माना जाता है। इनके द्वारा रचित 'रस सारांश' में रस और रसांगों का तथा 'श्रृंगार निर्णय' में श्रृंगार के आलंबन नायक-नायिका के भेदों का वर्णन भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर किया गया है। 'काव्य निर्णय' में मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव और अप्पय दीक्षित आदि के ग्रंथों को आधार बनाया गया है। इसमें रस, अलंकार, गुण, दोष और ध्वनि का विवेचन किया गया है। इनका काव्य उत्कृष्ट और ललित है। भाव पक्ष और कलापक्ष का सुन्दर सामंजस्य इनके कवि कर्म की उत्कृष्टता को प्रमाणित करते हैं, पर आचार्य कर्म में इन्हें पर्याप्त सफलता नहीं मिली। अलंकारों के वर्गीकरण और तुकों के विवेचन में इनकी मौलिकता झलकती है। 'छंदार्णव पिंगल' में संस्कृत-प्राकृत हिन्दी ग्रंथों से सहायता ली गई है। इन्होंने नीतिपरक सुन्दर सूक्तियों की भी रचना की है।

रीतिकाव्य में भिखारीदास का महत्त्व कवि और आचार्य दोनों रूपों में है। अलंकार विवेचन के क्रम में उन्होंने अलंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया। नायिका भेद पर उन्होंने नई दृष्टि से विचार किया। छंद विवेचन में भी कवि ने मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया है। छंद के संदर्भ में इन्होंने प्राकृत और संस्कृत काव्यों का अध्ययन किया। इन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष दिया कि तुक का प्रारंभ अपभ्रंश काव्य से होता है। काव्यांग के निरूपण में भी भिखारीदास का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सब विषयों पर गहराई से विश्लेषण किया है। काव्यांग विवेचन के क्रम में इन्होंने बड़े मनोहर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। भावों की स्वाभाविकता के साथ कलात्मकता का संयोग निम्नलिखित पद में देखा जा सकता है।

नैननि को तरसैये कहाँ लौं कहाँ हियो बिरहागि में तैये।
एक घरी न कहूँ कल पैयै कहाँ लगि प्रानन को कल पैये।

आवै यही अब जी मै विचार सखि चलि सौतिन के गृह जैये।

मान घटे ते कहा घटिहै जु पै प्रान पियारे को देखन पैये।

पद्‌माकर

कवि पद्‌माकर रीतिकाल के विशिष्टांग निरूपक आचार्य के रूप में जाने जाते हैं। जयपुर नरेश जगतसिंह के आश्रय में इन्होंने **'जगद्विनोद'** नामक नवरस-निरूपक ग्रंथ की रचना की। मतिराम जी के **'रसराज'** के समान पद्‌माकर जी का **'जगद्विनोद'** भी काव्यरसिकों और अभ्यासियों दोनों का कंठहार रहा है। इन्होंने **'हिम्मतबहादुर विरुदावली'** नाम की वीर रस की एक बहुत ही फड़कती हुई पुस्तक लिखी। डॉ. बच्चन सिंह ने इनके रीतिकाव्य-ग्रंथों की सराहना की है पर प्रशस्तिपरक और भक्तिपरक काव्य को 'काव्याभास' माना है, क्योंकि इनमें काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह अधिक है। किंतु शुक्लजी ने समग्रत: पद्‌माकर की नूतन कल्पना, दृश्य-चित्रण और भाषा की अनेक रूपता की प्रशंसा की है। 'गंगालहरी' और 'प्रबोधपचासा' काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से सामान्य हैं। गंगालहरी में कवि ने गंगा का अलंकारों से अद्वितीय अलंकरण किया है। इन ग्रंथों की रचना कवि ने अपने अंतिम दिनों में कानपुर में गंगा के तट पर की थी, अत: इनमें चमत्कार की अपेक्षा भक्ति और ज्ञान-वैराग्य की भावना प्रमुख है। इनका अलंकार ग्रंथ 'पद्‌माभरण' लक्षणों की स्पष्टता और उदाहरणों की सरसता के कारण अधिक प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने मुक्तक तथा प्रबंध दोनों शैलियों में रचना की। इनकी भाषा में प्रवाहमयता है तथा वह सरस एवं व्याकरण सम्मत है।

पद्‌माकर की कविता में मुख्य रूप से उल्लास और आनंद का वर्णन है। शृंगारिक भाव की व्यजंना में उन्मुक्तता और खुलापन है। ब्रजमंडल में फाग के दृश्य का अद्‌भुत वर्णन उन्होंने किया है। फाग पर उनकी एक प्रसिद्ध कविता है :

फाग की भीर अभीरन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर झोरी।

माई करी मन की पद्‌माकर ऊपर नाई अबीर की जोरी।

छीन पितम्बर कमर तेसु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।

नैन नचाई कही मुसकाई लला फिर आइयौ खेलन होरी।।

यहाँ होली में मादक अनुभूति का अत्यंत मनोरम वर्णन है। कविता में भाव, रूप और चेष्टा की अत्यंत मार्मिक अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार शीतऋतु में सामंती दरबार का अत्यंत उद्दीपन परक चित्र उनके काव्य में देखा जा सकता है :

गुलगुली गिल में गलीचा हैं, गुनीजन हैं

चाँदनी है चिक हैं चिरागन की माला हैं।

कहै पद्‌माकर ज्यों गजक हैं, गिजा हैं

सजी सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्यालिहिं हैं।

सिसिर के पाला को ना व्यापत कसाला तिन्हैं,

जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

तान तुक ताला हैं, विनोद के रसाला हैं

सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं।

पद्‌माकर की अभिव्यक्ति में नाद तत्व और चित्रतत्व का संयोग है। कल्पना द्वारा उन्होंने रूप, रस, गंध, स्वाद और घ्राण के बिंब को कविता में मूर्त रूप में रख दिया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन रीतिबद्ध कवियों ने सामान्य पाठकों के लिए काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का ज्ञान कराने और सरस उदाहरणों के द्वारा सहृदय रसिकों का मनोरंजन करने के लिए ही काव्य-रचना की थी। इनसे संस्कृत काव्यशास्त्रियों की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि एक तो दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं, दूसरे, ब्रजभाषा गद्य का ऐसा विकास नहीं हुआ था कि उसमें काव्य-सिद्धांतों की सूक्ष्मताओं का निरूपण किया जा सकता।

11.3 रीतिसिद्ध काव्य

रीतिसिद्ध काव्य में काव्यशास्त्रीयता इतनी अधिक है कि लगता है कवि रस, अलंकार, ध्वनि, नायक-नायिका भेद आदि के उदाहरण स्वरूप काव्य-रचना कर रहा हो। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे मध्यम मार्ग का काव्य माना है क्योंकि इसमें न तो लक्षण-उदाहरण की आचार्यवादी परंपरा है न ही रीतिमुक्त काव्य का स्वच्छन्द भावावेग ही। इस वर्ग के कवि 'शास्त्रकाव्योमय कवि' माने गए जो रीति से बंधे भी थे और उससे कुछ स्वच्छंद होकर भी चलते थे।

रीतिकाल के सर्वप्रमुख कवि बिहारी की विशेषताओं की स्वतंत्र चर्चा करने के लिए आचार्य मिश्र ने इस काव्य परंपरा को रीतिबद्धकाव्य की श्रेणी से पृथक कर दिया। आचार्य शुक्ल ने मूलतः रीतिकालीन कवियों को दो वर्गों में विभाजित किया - प्रथम और प्रमुख वर्ग लक्षणग्रंथकारों का रखा जिनकी संख्या 57 है। दूसरे वर्ग के कवियों को फुटकल श्रृंगार परक पद्यकार या अन्य प्रकार की रचना करने वाला माना। वास्तव में **'बिहारी'** इसी वर्ग में आते हैं क्योंकि इन्होंने रीतिग्रंथ की रचना नहीं की, लेकिन शुक्लजी ने इन्हें प्रतिनिधि, रीतिग्रंथकारों के वर्ग में रखा है क्योंकि इनका काव्य लक्षणानुसारी है। अतः ये प्रतिनिधि कवियों में ही समाहित कर लिए गए। आचार्य मिश्र ने इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए रीतिसिद्ध कवियों का एक स्वतंत्र वर्ग बना दिया। उन्होंने इस वर्ग के कवियों के लिए स्पष्टीकरण दिया, "जिन्होंने रीति की सारी परंपरा सिद्ध कर ली थी अर्थात् रचनाएँ जिन्होंने रीति की बंधी परिपाटी के अनुकूल ही की हैं पर लक्षणग्रंथ प्रस्तुत न करके स्वतंत्र रूप से अपनी रचनाएँ रची हैं।'' आगे वे फिर कहते हैं, "इस प्रकार के कवियों को, जो रीतिविरुद्ध नहीं और लक्षणग्रंथ से ऐसे भी नहीं बँधे हैं कि तिलभर भी उससे हट न सकें, भले ही वे रीति की परंपरा को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाते हों, रीतिसिद्ध कवि कहना चाहिए।'' "हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास में ऐसे कवियों को काव्यकवि के वर्ग में रखा गया है।

वास्तव में, रीतिसिद्ध कवियों को आचार्य या कवि-शिक्षक बनने की अभिलाषा नहीं थी। इन्होंने अपने काव्यकौशल के प्रदर्शन पर विशेष ध्यान दिया। इनमें स्वानुभूति की प्रधानता मिलती है जिसे अलंकृत शैली में प्रस्तुत किया गया है। यों तो संपूर्ण रीतिकाव्य मुक्तक शैली में निर्मित हुआ है किन्तु रीतिसिद्ध कवियों ने संस्कृत, प्राकृतादि की मुक्तक परंपरा से सीधे प्रभाव ग्रहण किया है। ये कवि विद्यापति, चंडीदास, सूरदास, रहीम, तुलसीदास आदि भाषा कवियों से भी प्रेरित हुए हैं। इनकी काव्य-दृष्टि तत्कालीन सामंती परिवेश से ही निर्मित है। इसलिए इन पर फारसी काव्य का भी प्रभाव पाया जाता है। रीतिसिद्ध काव्य यद्यपि विलासप्रधान है, फलतः उसके केन्द्र में नारी का रूपाकर्षण प्रमुख है फिर भी उसका क्षेत्र रीतिबद्ध की अपेक्षा विस्तृत है। इनमें श्रृंगार के साथ-साथ भक्ति, प्रशस्ति, नीति, ज्ञान-वैराग्य और प्रकृति के आलंबन-उद्दीपक रूपों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

बिहारी

इनका एक ही काव्यग्रंथ उपलब्ध है, किन्तु उसके द्वारा इन्होंने जो कीर्ति अर्जित की वह किसी अन्य हिन्दी कवि द्वारा संभव नहीं हो सका। इनकी 'सतसई' मुक्तक काव्य परंपरा की एक प्रतिनिधि रचना है। "इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक-एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गई। .... इस प्रकार बिहारी संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास-आ. रामचन्द्र शुक्ल) आगे शुक्लजी ने लिखा है कि "मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है।'' बाद में इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा कि इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक स्तवक सा कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की

सामासशक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से विद्यमान थी। बिहारी ने दोहा ओर सोरठा जैसे छोटे छंद में भी पूर्ण और सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। बिहारी ने मुक्तक काव्य की प्राचीन परंपरा का अनुसरण करते हुए अपने दोहों में श्रृंगार, भक्ति, नीति-वैराग्य, प्रशस्ति, हास्य-व्यंग्य सबका समावेश किया है किन्तु युगानूकूल उनमें श्रृंगार के विविध रूपों, नायक-नायिका भेद, नखशिख, षड्ऋतु और बारहमासे का वर्णन अधिक है। इन्होंने प्रकृति का प्रयोग अनेक रूपों में किया है।

बिहारी को कुछ विद्वान अलंकारवादी मानते हैं क्योंकि इनके दोहों में कई-कई अलंकारों का सहज विन्यास पाया जाता है किन्तु ये अलंकार प्रेषणीयता को बढ़ाने में ही सहयोगी सिद्ध होते हैं। कुछ लोग इन्हें शुद्ध रसवादी मानते हैं क्योंकि बिहारी ने स्वयं 'सतसई' के अंत में लिखा है, '**करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद**'। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने इन्हें ध्वनिवादी सिद्ध करते हुए लिखा है, "यदि उनके लक्ष्यों (दोहों) की परीक्षा की जाए तो यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाएगा कि रस ध्वनि के उदाहरणों की भरमार होने पर भी वे रस-संप्रदाय के पोषक न होकर ध्वनि-संप्रदाय के ही अनुगामी हैं।''

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बिहारी ने 'सतसई' की रचना अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए नहीं की। यदि ऐसा होता तो सभी अलंकारों का उसमें विधि प्रतिपादन होता। यदि उन्होंने श्रृंगार रस के भेद-प्रभेदों और नायक-नायिका-भेद को दृष्टि में रखा होता तो उसी के सर्वांगों का निदर्शन होता। इन्होंने वर्ण्यवस्तु का आधार तो सबसे ज्यादा श्रृंगार को ही बनाया पर उसमें भी नख-शिखपरक रचना ज्यादा है। वियोग पक्ष में पूर्वानुराग का वर्णन अधिक है। विरह वर्णन में जहाँ ये फारसी-उर्दू के प्रभाव से मुक्त रहे हैं, वहाँ स्वाभाविकता है किंतु जहां विदेशी प्रभाव ज्यादा है वहाँ ऊहात्मक कथन हास्यापद हो गए हैं। इनकी अनुभाव योजना की प्रशंसा आचार्य शुक्ल से लेकर आज तक के सभी समीक्षकों ने की है। राज प्रशस्ति की दृष्टि से बिहारी बहुत ही संयमित रहे हैं। इन्होंने अपने आश्रय दाता मिर्जाराजा जयसिंह की युद्धवीरता, दानवीरता, धर्मवीरता के साथ ही उनके रूप-गुण की भी प्रशंसा की है। बिहारी की नीतिपरक उक्तियाँ मात्र सूक्तियाँ नहीं हैं। अपितु उनमें जीवनानुभवों का उपयोग सरस और व्यंजक शैली में किया गया है। हास्य-व्यंग्य की उक्तियों में उन्होंने समाज के रुग्ण पक्ष पर मार्मिक प्रहार किया है जिसके लक्ष्य प्राय: ज्योतिषी, वैद्य, पौराणिक, घरजमाई आदि रहे हैं।

बिहारी धार्मिक दृष्टि से निम्बार्क संप्रदाय में दीक्षित थे, परन्तु रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति उनमें भी सांप्रदायिक आग्रह नहीं मिलता। उन्हें भक्तकवि नहीं माना जा सकता। वे एक सामान्य भारतीय की तरह धार्मिक भावना से परिपूरित थे। उन्होंने राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं माना। उनके दोहों में दार्शनिक विचार भी प्राप्त होते हैं किंतु वे किसी दार्शनिक मतवाद से कोसों दूर थे।

डॉ. बच्चन सिंह ने बिहारी को स्वच्छंदधारा में न रखकर अभिजात (क्लासिकल) वर्ग में रखा है जो प्राय: रीतिसिद्ध कवि - वर्ग ही है। इन्होंने बिहारी के मध्यममार्गीय होने का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि "इनकी कविता न तो रीतिबद्ध कवियों की तरह पूर्णत: निर्वैयक्तिक है न रीतिमुक्त कवियों की तरह वैयक्तिक ही, बल्कि इनमें दोनों तत्व घुलेमिले हैं।''

भाषा की दृष्टि से आचार्य शुक्ल ने रीतिबद्ध कवियों में पद्माकर, रीतिमुक्त कवियों में घनानंद और रीतिसिद्ध कवियों में बिहारी की विशेष प्रशंसा की है। पद्माकर और बिहारी की तुलना के संदर्भ में उन्होंने लिखा है - "इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हावभावपूर्ण मूर्तिविधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्तिविधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़ कर और किसी कवि में नहीं पाई जाती।'' बिहारी की भाषा को शुक्लजी ने 'चलती' होने पर भी 'साहित्यिक' माना है। आचार्य मिश्र लिखते हैं, "बिहारी की भाषा बहुत कुछ शुद्ध ब्रजी है, पर है वह साहित्यिक। इनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं। खड़ी बोली के कृदंत और क्रियापद अनुप्रास के आग्रह से रखे गए हैं। ..... बिहारी की भाषा व्याकरण से गठी हुई है, मुहांवरों के प्रयोग, सांकेतिक शब्दावली और सुष्ठु पदावली से संयुक्त है। ..... उसमें साहित्यिक दोषों को ढूँढ निकालना श्रमसाध्य है। विन्यास सम्मत, प्रयोग व्यवस्थित और शैली परमार्जित है।''

बिहारी ने दोहा जैसा छोटा छंद चुना पर उसमें न तो कहीं न्यूनपदत्व है न अधिक पदत्व। यह छंद एक ओर तो संस्कृत की 'आर्या' से मिलता जुलता है दूसरी ओर उर्दू-फारसी के 'शेर' से और प्राकृत की 'गाथा' से तो उद्भूत ही लगता है। मिश्रजी ने इनके दोहा छंद-प्रयोग के बारे में कहा है कि कुल 48 मात्राओं और अधिक से अधिक 46 वर्णों में ही भाव की सारी सामग्री या 'रस का समूचा चक्र' स्थापित मिलता है। इस क्षेत्र में कवि को ऐसी अभूतपूर्व सफलता मिली कि परवर्ती क्या पूर्ववर्ती कवियों को भी ऐसी सफलता दुर्लभ थी। सतसइयों की परंपरा में हिंदी का यह ग्रंथ सबसे अनूठा और अपनी दीप्ति में अनुपम है।

इनकी भाषा और भावव्यंजना की क्षमता ही ऐसी थी कि आचार्य शुक्ल को इन्हें रीतिकाल के अन्य कवियों के वर्ग से हटाकर 'रीतिकाल के ग्रंथकार' कवियों में स्थान देना पड़ा और आचार्य मिश्र को केवल इनके लिए एक अलग वर्ग की कल्पना करनी पड़ी। डॉ. बच्चन सिंह ने यद्यपि रीतिमुक्त कवियों में इन्हें परिगणित किया पर स्वच्छंद कवियों में नहीं बल्कि क्लासिकल (अभिजात) वर्ग में। उन्होंने एक मात्र बिहारी को इस वर्ग का प्रतिनिधि कवि स्वीकार किया।

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'बिहारी प्रतिभाशाली कवि थे, परंतु उन्होंने काव्याभ्यास के बाद ही कविता रचने की ओर ध्यान दिया था। इसीलिए उनके काव्य में भक्ति और निपुणता का चरम विकास संभव हुआ।''

बिहारी के अतिरिक्त इतिहास ग्रंथों में 'रीतिबद्ध कवियों' में **बेनी कवि** का उल्लेख किया गया है जो इसी नाम के बेनी बंदीजन ('टिकैतरायप्रकाश' - अलंकारग्रंथ, 'रसविलास' - रसनिरूपक ग्रंथ और भँडौवा-हास्यरस के कर्त्ता) और बेनी प्रवीन (शृंगारभूषण और नवरसरंग तथा 'नानारावप्रकाश' नामक अलंकार ग्रंथ के रचयिता) से भिन्न असनी के बंदीजन है। इनके शृंगार परक फुटकल छंद ही प्राप्त होते हैं। **कृष्ण कवि** (बिहारी सतसई के टीकाकार) को इस वर्ग में बिहारी सतसई के दोहों का सरस कवित्त-सवैयों में पल्लवन करने के कारण रखा गया है। **'रसनिधि'** बरौनी (दतिया राज्य) के जमींदार थे। इन्होंने बिहारी सतसई की पद्धति पर शृंगाररस के एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'रतनहजारा' की रचना की थी। इनके अनेक काव्यग्रंथ, खोज में प्राप्त हुए हैं। **नृपशंभु** का 'नखशिख' सरस काव्यग्रंथ है। **रामसहाय दास**, **पजनेस** और **राजा मानसिंह द्विजदेव** का भी उल्लेख इसी श्रेणी में मिलता है।

11.4 रीतिमुक्त काव्य

रीतिमुक्त या स्वच्छन्द धारा के कवि अपने समकालीन रीतिबद्ध कवियों से वर्ण्य विषय और वर्णन प्रणाली में भी भिन्न थे। रीतिबद्ध काव्य में शास्त्रीयता ज्यादा थी। उन्होंने प्राचीन काव्य प्रणाली को अपना आदर्श माना, जब कि स्वच्छन्द काव्य कर्त्ता शास्त्रीय चौखटों को अस्वीकार करके आत्मानुभूति के आवेग में रचना करते थे। इनकी रचनाओं में वैयक्तिकता की प्रधानता थी जबकि दूसरे लोग निर्वैयक्तिक अथवा तटस्थतापूर्वक काव्यशास्त्रीय लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे। ये सामाजिक या दरबारी मर्यादा में बंधकर रचना करने वाले नहीं थे। इस धारा के सभी कवि प्रेममार्ग के पथिक थे। उनका प्रेम स्थूल जगत से उत्पन्न होने वाला था किन्तु अपनी गहनता और व्यापकता में अलौकिक ऊँचाइयों का स्पर्श करने लगता था। अत: उस पर सूफी प्रेम की पीर' का प्रभाव तो था ही साथ ही इश्क मज़ाजी की इश्क हकीकी में परिणति भी थी। इनका प्रेम एकोन्मुख और विषम था। इन कवियों पर इसी कारण फारसी प्रेम-पद्धति का भी प्रभाव पाया जाता है। रीतिबद्ध कवियों का संयोग मांसल और स्थूल था जबकि रीतिमुक्त का संयोग मानसिक। इन कवियों ने संयोग की अपेक्षा वियोग का वर्णन अधिक किया है। रीतिबद्ध कवियों ने प्राय: राधाकृष्ण के शृंगार का वर्णन मुक्तकों में किया है जबकि इन कवियों ने मुक्तकों और प्रबंधों दोनों विधाओं को अपनाया है। डॉ.बच्चन सिंह ने माना है कि रीतिबद्ध कवियों का प्रेम क्रीड़ापरक है जबकि इनका पीड़ा परक। प्रेम गाथाओं के लोक प्रचलित प्रेम में जो स्वाभाविकता और प्राकृतिक पृष्ठभूमि प्राप्त होती है वह इनकी प्रेमाभिव्यक्ति को जीवंत और प्रामाणिक बना देती है। रूप-सौंदर्य का वर्णन वहाँ आलंबन गत ज्यादा है जबकि ये कवि अपने मन (आश्रय) पर पड़े उसके प्रभाव का अंकन मनोयोगपूर्वक करते हैं।

इस धारा के प्रमुख कवि हैं - घनानंद, बोधा, आलम, ठाकुर और द्विजदेव, किन्तु इनमें आनंद घन या घनानंद का स्थान सर्वोपरि है। इनके काव्य में कवि परंपरा द्वारा स्वीकृत रूढ़ियों का पालन नहीं है।

इसीलिए इनकी कविता 'जग की कठिनाई' से सर्वथा भिन्न है। इनके प्रेम पंथ में बौद्धिक चातुरी नहीं है, न ये लुक छिपकर 'प्रेमचौगान' खेलनेवाले ही थे। इनका प्रेममार्ग अत्यन्त सरल सीधा और समर्पणप्रधान था। घनानंद ने लिखा - 'अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।' ये लोकलाज का साहसपूर्वक तिरस्कार करके अपनी एकनिष्ठता में लीन रहने वाले थे।

रीतिमुक्त कवियों के प्रेम की तुलना भारतीय या विदेशी प्रेमव्यंजना से नहीं की जा सकती क्योंकि इनका प्रेम विशिष्ट है, प्रिय भी विशिष्ट है। संयोग और वियोग भी इसीलिए विशिष्ट रूप में ही अभिव्यक्त हुआ है। आचार्य शुक्ल ने इन कवियों को लक्षणानुसारी रचना करने वाले कवियों से भिन्न माना है। वे लिखते हैं, "पिछले वर्ग के कवि (लक्षणबद्ध काव्य-रचना करने वाले) प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अंतर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा। अधिकांश में ये भी श्रृंगारी कवि हैं।" यद्यपि ये रीतिमुक्त थे फिर भी इनके काव्यों पर रीति परंपरा का प्रभाव पाया जाता है। कुछ लोगों ने नायिका-भेद, संयोग-वियोग की विभिन्न स्थितियों का काव्यशास्त्रीय निरूपण इनके काव्यों में भी खोजने का चेष्टा की है।

एक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह काव्य रीतिबद्ध काव्य के विरुद्ध स्वच्छन्द वृत्ति के कवियों का विद्रोह दिखाई पड़ता है क्योंकि ठाकुर कवि ने कवि शिक्षा से प्राप्त निर्जीव काव्य प्रणाली के विरोध में ही कहा है -

'डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच, लोगन कबित्त कीबो खेल करि मानो है।'

अर्थात् रीतिबद्ध कवि ढेले की तरह नीरस शुष्क कविता रचकर संवेदनशील कवियों को चोट पहुँचाते थे। इसी के परिणाम स्वरूप स्वच्छंदमार्गी कवियों ने सच्ची अनुभूतियों का प्रकाशन अपने काव्य में किया। डॉ.मनोहर लाल गौड़ ने लिखा है, "स्वच्छंदतावादी साहित्य में अभिनवत्व (ताजगी) रहता है क्योंकि उसकी प्रेरणा जीवन से मिलती है। जब साहित्य अपने समवर्ती जीवन से प्रेरणा न लेकर पूर्ववर्ती साहित्य से प्रेरणा लेने लगता है तब वह क्लासिकल बन जाता है, उसकी अभिनवता क्षीण होने लगती है।" इन कवियों ने लोक-जीवन की मर्यादा का तिरस्कार करके सामान्या या वेश्या के प्रेम का वर्णन किया।

घनानंद

डॉ. मनोहर लाल गौड़ ने स्वच्छंदधारा के प्रमुख गुण-भावात्मक वक्रता, लाक्षणिकता, भावों की वैयक्तिकता, रहस्यात्मकता, मार्मिकता, स्वच्छंद आदि माने हैं। ये सभी घनानंद में सबसे स्फुट रूप में प्राप्त होते हैं। शुक्लजी घनानंद को साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा के काव्य के प्रधान स्तंभों में मानते हैं। घनानंद के काव्य में अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष का सम्यक् संयोजन प्राप्त होता है। इन्होंने विभाव पक्ष का वर्णन कम और भावों का अधिक किया है। इन भावों में रीझ, विषाद, उलझन, अभिलाष, भूल, उपालंभ आदि प्रमुख हैं। इन्होंने प्रेम - व्यापार के मूल उपादान नेत्रों और प्राणों का मानवीकरण करके भावों को सहज संप्रेष्य बना दिया है। इनकी प्रेयसी (बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार की नर्तकी) सुजान दिल्ली दरबार छूटने पर भी, घनानंद की भावना से छूट न पाई फलतः वही श्रीकृष्ण के विशेषण के रूप में इनके काव्य में व्याप्त हो गई। इस प्रकार इनकी लौकिक भावना का चिन्मुखीकरण होकर दिव्य या आध्यात्मिक भावना में लय हो गया।

घनानंद ने यद्यपि सुजान श्रीकृष्ण के प्रति प्रणयानुभूति निवेदित की है पर इन्हें भक्त नहीं माना जा सकता। **आ.विश्वनाथ प्रसाद मिश्र** ने लिखा है कि रहीम और सेनापति भी भक्त नहीं थे उसी प्रकार रसखान, आलम और घनानंद भी प्रेमोमंग के कवि हैं भक्त नहीं हैं, किन्तु यदि व्यापक दृष्टि से विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि कबित्त और सवैयों में लौकिक प्रेम की विवृत्ति है पर धीरे-धीरे आनंदघन का मन श्रीराधाकृष्ण के अलौकिक प्रेम अर्थात् भक्ति में निमग्न दिखता है। "रीतिकाल के अन्य कवियों की तरह श्रृंगार और भक्ति की खिचड़ी पकाने के स्थान पर घनानंद ने अपना प्रेम जीवन और भक्ति जीवन अलग-अलग रखकर दोनों को पूर्णता तक पहुँचाया।" उन्होंने सारे सांसारिक प्रेम और सौंदर्य को अलौकिक प्रेम और सौंदर्य का एक कण या बूँद का विस्तार माना है। घनानंद का परवर्ती पद-साहित्य भक्ति प्रधान है जिसमें सरल भक्तिभाव का अभिव्यंजन है।

आनंदघन का अभिव्यंजना शिल्प अत्यन्त प्रौढ़ और परिष्कृत है। इनके भाषा-शिल्प की प्रशंसा आचार्य शुक्ल, आचार्य मिश्र, डॉ. कृष्णचंद्र वर्मा, डॉ.मनोहरलाल गौड़ और डॉ.रामदेव शुक्ल आदि विद्वानों ने मुक्तकंठ से की है। इनके काव्य में प्रेम के उच्छ्वासित निर्बाध भावों की अभिव्यक्ति बड़ी सहजता से हुई है।

डॉ. बच्चनसिंह का मत बहुत ही सटीक है कि घन आनंद संगीत, नृत्य, वाद्य, चित्र, काव्य को एक साथ प्रस्तुत करते हुए एक व्यावहारिक सौंदर्य शास्त्र बनाते हैं। वे प्रेम की भावानुभूति, काव्यानुभूति और काव्य भाषा को नए बोध के अनुसार रचते हैं। घनानंद की कविता में जिस प्रेम को अभिव्यंजित किया गया है, वह उनके जीवन की वास्तविकता है। घनानंद के प्रेम में आत्मानुभूति की प्रधानता है। सौन्दर्य और प्रेम उनकी कविता का आधार है। सौन्दर्य और प्रेम के प्रति उनमें समर्पण है। घनानंद की कविता में विलास से परे शुद्ध अनुराग की अनुभूति है। उनके एक पद को यहाँ उद्धृत किया जा सकता है।

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचै चलै तजि अपुनापौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक ते दूसरौं आँक नहीं।
तुम कौन धौ पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।

घनानंद ने स्नेह के मार्ग को अत्यंत सीधा और सरल बताया है इसमें किसी प्रकार के छल कपट की गुंजाइश नहीं है। प्रेम परस्पर आत्मदान की वस्तु है। घनानंद आत्मदान तो देते हैं, परंतु सुजान से स्नेह मिलने की संभावना के प्रति उत्सुक नहीं हैं। आत्मानुभूति के कारण ही घनानंद की भाषा में लाक्षणिक सौंदर्य है। हृदय की अनुभूति जब काव्य भाषा को रचती है तो भाषा में अनूठी भाव भंगिमा का संचार होता है। घनानंद के काव्य की भाषा बहुत कुछ छायावादी कवियों की तरह है। घनानंद की कविता की भाषा में स्वाभाविक प्रेम की स्निग्धता के साथ-साथ वाग्वैदग्ध्य की उक्तिवक्रता का परिचय भी मिलता है।

परकारज देह को धारे फिरौ परजन्य! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सबही बिधि सुंदरता सरसौ।
घन आनंद जीवनदायक हो, कबौं मेंरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवन को लै बरसौ।

ठाकुर

हिन्दी के इतिहास में तीन कवि ठाकुर नामधारी हो चुके हैं जिनमें से दो असनी के ब्रह्मभट्ट थे और एक बुंदेलखंड के कायस्थ। ये तीसरे ठाकुर ही रीतिमुक्त धारा के प्रसिद्ध कवि हैं। इनकी कविता बड़ी ही सरस और सरल है। इनके स्फुट छंदों के दो संग्रह 'ठाकुर शतक' और 'ठाकुर ठसक' नाम से प्रसिद्ध हैं। ठाकुर द्वारा दी गई काव्य परिभाषा तत्कालीन काव्य पर सटीक लागू होती है। वे कहते हैं -

"मोतिन की सी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की उक्ति अनूठी बनाइ सुनावै।
ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कबित्त कहावै।''

इनके काव्य में प्रेम के विविध प्रसंगों के साथ ही होली, वसंत आदि के स्वाभाविक वर्णन प्राप्त होते हैं। इन्हें लोकजीवन का अच्छा ज्ञान था इसीलिए इनके काव्य में लोकोक्तियों का व्यंजनामय प्रयोग पाया जाता है। इन्होंने भावों का यथातथ्य चित्रण बोलचाल की भाषा में किया है।

बोधा बुंदेलखंड के रहने वाले थे। इनका कविता काल सन् 1773 से 1803 ई. तक माना जाता है। घनानंद की भांति इनका भी प्रेम पन्ना दरबार की नर्तकी सुभान से हो गया था जिसके कारण इन्हें देश निकाला मिला। इस निर्वासन में इन्होंने **'माधवानलकामकंदला चरित्र'** या **'विरहवारीश'** की रचना की। कवि ठाकुर की तरह ये भी आत्मसम्मानी और मनमौजी थे। फारसी प्रभाव के कारण इनकी रचना कहीं-कहीं हल्की हो गई है। 'माधवानलकामकंदला' (विरहवारीश) प्रसिद्ध प्रेमाख्यान पर आधारित है और **आलम** के इसी नाम के प्रबंध से प्रभावित है। **'इश्कनामा'** इनका दूसरा काव्यग्रंथ है जिसमें प्रेम के महत्त्व और उसके विविध पक्षों का वर्णन है। रीतिमुक्त कवियों में प्रेम की पीर' का चित्रण करने वाले बोधा बहुत ही मर्मस्पशी कवि हैं।

रीति-स्वच्छंद काव्य धारा के अन्तर्गत **आलम, रसखान** और **द्विजदेव** का भी उल्लेख किया जाता है। इन कवियों ने स्वानुभूति के आधार पर काव्य रचना की है। संयोग की अपेक्षा वियोग का वर्णन अधिक होने से स्थूल विलासपूर्ण चित्रण की अपेक्षा सूक्ष्म मानसिक दश ों का विस्तार पूर्वक वर्णन इन्हें रीतिबद्ध कवियों से पृथक् करता है। ये सभी प्रेम की पीर' से तथा फारस. प्रेम की विषमता से भी प्रभावित हैं। इनकी कल्पना में ताज़गी और मौलिकता भी है। स्वच्छंद भाव और अनुभूति के कारण रीतिमुक्त कवि रीतिबद्धता को चुनौती देते हैं। रीति काव्य के जड़ बंधन से उनकी कविता मुक्त है। उनकी कविता चमत्कार प्रियता और रूढ़ उपमान से लदी हुई नहीं है। रीतिमुक्त कवियों के काव्य में नैराश्य का भावावेग है। यह नैराश्य उनके जीवन में संवदेना और आत्मीयता की कमी से उपजा है। संवेदना और आत्मीयता की स्वानुभूति काव्य भाषा को रूढ़ संस्कारों से मुक्त करती है। वैयक्तिक विशिष्टता से रीतिमुक्त कवियों को सहज ही पहचाना जा सकता है। हर रीतिमुक्त कवि ने अपनी वेदना और अपने आत्मिक संघर्ष का अंकन काव्य में किया है। इसलिए रीतिबद्ध कवियों की कृत्रिमता से अलग रीतिमुक्त कविता में जैविक प्रक्रिया का बोध मिलता है।

11.5 शृंगारेतर काव्य

रीतिकाल में लक्षण - लक्ष्य परंपरा से मुक्त होकर बहुत से काव्यग्रंथ लिखे गए। आचार्य शुक्ल ने 'रीतिकाल के अन्य कवि' के अंतर्गत स्वच्छंदधारा के कवियों के साथ ही उन कवियों का भी उल्लेख किया है जिन्होंने आदिकाल - भक्तिकाल की प्रवृत्तियों का विस्तार रीतिकाल में किया है। डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित हिन्दी साहित्य का इतिहास' में संत काव्य, सूफी काव्य, वीर - प्रशस्ति काव्य और नीति वैराग्य आदि काव्य प्रवृत्तियों का विस्तार से विवेचन किया गया है। डॉ. भगीरथ मिश्र ने तो शृंगारेतर रीतिकालीन काव्य में जीवन के बीच वास्तविक बातों के अनुभव और ज्ञान संग्रह के रूप में ... राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र, ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, भोजन शास्त्र .. मैत्री, संगीत शास्त्र आदि की रचनाओं की गणना भी की है।

रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्यों के अंतर्गत हमने भक्ति, प्रशस्ति, नीति वैराग्य आदि विषयों की चर्चा की है। शृंगारेतर काव्य के अन्तर्गत उन कवियों/कृतियों का परिचय दिया जाएगा। जिन्होंने अनेक काव्य - विषयों पर स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की। इनमें से कुछ प्रबंध, कुछ निबंध और कुछ मुक्तक काव्य हैं। पं. रामचंद्र शुक्ल ने इन काव्यों में सरसता की कमी भी लक्षित की है। किन्तु फिर भी रीतिकालीन साहित्य में इनका अपना एक विशेष स्थान है।

प्रबंध काव्यों में **सबलसिंह** का **महाभारत, गुरू गोविंद सिंह** का **चंडी चरित्र, लाल कवि** का **छत्रप्रकाश, जोधराज** का **हम्मीर रासो, गुमान मिश्र** का **नैषध चरित्र, सूदन** का **सुजान चरित्र, देवीदत्त** की **वैताल पचीसी, चंद्रशेखर** का **हम्मीर हठ, श्रीधर** का **जंगनामा, पद्माकर** का **रामरसायन, मधुसूदनदास** का **रामाश्वमेध** आदि की गणना की जाती है। दूसरे प्रकार के प्रबंधों को शुक्ल जी **वर्णनात्मक प्रबंध** कहते हैं जिनमें दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली, जन्मोत्सव, रामकलेवा आदि का वर्णन किया गया है। इन्हें काव्य न कहकर शुक्लजी के शब्दों में पद्य कहा जा सकता है। तीसरे प्रकार के रचयिताओं को वे **सूक्तिकार** कहते हैं। इनमें वाग्वैदग्ध्यपूर्ण तथ्य कथन रहता है। इस वर्ग में वृंद, गिरिधर,

घाघ और वैताल की परिगणना की गई है। चौथे प्रकार में **ज्ञानोपदेश और वैराग्य परक पद्यों** को रखा गया है। इनमें रूपक, दृष्टांत आदि अलंकारों के द्वारा विषय को स्पष्ट करने की चेष्टा लक्षित होती है। अन्योक्तियों के सहारे भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति और करुणा उत्पन्न की गई है। पाँचवा वर्ग **भक्त कवियों** का है जो पुरानी परंपरा के अनुसार ईश्वर के प्रति प्रेम और विनय की रचना करने वाले थे। छठा वर्ग **प्रशस्तिकाव्य** रचनाकारों का है जिन्होंने आश्रयदाताओं की युद्धवीरता और दानवीरता का वर्णन किया है। जिन कवियों ने राष्ट्र नायकों की प्रशंसा में काव्य रचना की है उन प्रशस्ति काव्य के रचयिताओं को ही कवियश मिल पाया शेष कवियों के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध न हो सकी।

11.5.1 वीरकाव्य

वीरकाव्य में सबसे पहले **मान कवि** का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने अपने आश्रयदाता मेवाड़ नरेश राजसिंह की प्रशंसा में सन् 1677 में **राजविलास** की रचना की। इसमें राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा का प्रयोग है। वीरकाव्य के अन्य कवि **सूदन** ने अपने आश्रयदाता भरतपुर के सुजानसिंह 'सूरजमल' की युद्धवीरता का वर्णन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **सुजानचरित** में किया है। वर्ण्य विषय की विविधता और विस्तार को देखकर इनकी योग्यता का अंदाजा लगाया जा सकता है। इन्हें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अनेक भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इसकी रचना लगभग 1753 ई. में हुई होगी। **पद्माकर** ने अपने रस विवेचन के ग्रंथ **'जगद्विनोद'** के आरंभ में महाराजा जगतसिंह की प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त **हिम्मतबहादुर विरुदावली** में हिम्मतबहादुर और अर्जुनसिंह के युद्धों का वर्णन है। **प्रतापविरुदावली** में महाराजा प्रतापसिंह की प्रशस्ति है। **जोधराज** ने नींवगढ़ (अलवर) के राजा चन्द्रभान चौहान की आज्ञा से **हम्मीर रासो** की रचना सन् 1828 में की, जिसमें रणथंभोर के हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन है। पृथ्वीराज रासो का प्रभाव ग्रहण करके भी कवि जोधराज ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। इसके वर्णन में ऐतिहासिक कम कल्पना का योग ज्यादा है।

मुक्तक वीर काव्यों में **भूषण** के **शिवाबावनी** और **छत्रसालदशक** के अतिरिक्त **कविराज बाँकीदास** का नाम उल्लेखनीय है। जोधपुराधीश राजा मानसिंह इन्हें अपना गुरू मानते थे। इनके **सूर छत्तीसी** और **वीरविनोद** प्रसिद्ध वीर रसात्मक ग्रंथ हैं।

आदिकालीन वीरगाथा की रचना प्राय: चारणों और भाटों ने की थी अत: उनमें अत्युक्तिपूर्ण चाटुकारिता की प्रमुखता है, जबकि रीतिकाल में वीर काव्यकर्त्ता मूलत: कवि थे जिन्होंने साहित्य रचना करते समय राष्ट्रहित को प्रमुखता दी। आदिकालीन कवियों की भाषा डिंगल है जबकि रीतिकवियों की भाषा ब्रजभाषा। वस्तुत: आदिकाल के वीरकाव्य और रीतिकाल के वीरकाव्य के बीच कोई मूलभूत वैचारिक अंतर नहीं है। आदिकाल और रीतिकाल दोनों युगों में सामंत की प्रशस्ति में ही वीरकाव्य की सर्जना हुई है। परन्तु कथ्य की ऐतिहासिक प्रामाणिकता, भाव व्यंजना की निपुणता, ध्वन्यात्मकता और भाषा की शुद्धता की दृष्टि से रीतिकाल का वीरकाव्य आदिकालीन वीर काव्य से श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

11.5.2 भक्तिकाव्य

सामान्य जनता में रीतिकाल में भी भक्तिकाव्य धारा का ही विशेष सम्मान था क्योंकि वह हिम्मत न हारकर हरिनाम के भरोसे जीवन संघर्ष में जुटी हुई थी। कवि भी जीवन का उत्तमांश राजदरबारों में व्यतीत करने के बाद वृद्धावस्था में सामान्य जन बन जाता था। समाज के निम्न वर्णों में संतों और सूफी-भावनाओं का प्रचार चला आ रहा था जबकि सवर्णों में राम-कृष्ण की भक्ति अधिक प्रचलित थी। रीतिकाल में भक्ति की निष्ठा के स्थान पर आडंबर की प्रमुखता हो गई थी। इसी कारण इस युग के भक्तिकाव्य में भक्ति का सहज सरल वर्णन दिखाई नहीं देता। भक्ति रीतिकालीन कवियों की मनोवैज्ञानिक जरूरत है। मनोवैज्ञानिक जरूरत इस अर्थ में कह सकते हैं कि कवि के लिए भक्ति सर्मपण की विषयवस्तु नहीं है। उनके लिए भक्ति सांसारिकता से ऊबकर पलायन का एक रास्ता है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने जीवन के उत्तरार्ध में ही भक्ति काव्य की रचना की। उसमें भी उनका दैन्य और अभाव झलकता है। दूसरे प्रकार की भक्ति के आराध्य राधा और श्रीकृष्ण हैं। राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंग का सहारा लेकर कवि रसिकता को उभारने का प्रयत्न करते हैं। इसके पीछे रीतिकवियों का यह तर्क रहा

होगा कि रसिकता का महत्त्व लौकिक जीवन तक ही सीमित नहीं है, उसका महत्त्व अलौकिक जीवन में भी है। रीतिकवियों की भक्ति विवेचना के इन संदर्भों के अतिरिक्त सांप्रदायिक रूप से भी भक्ति साहित्य की कुछ रचनाएँ मिलती हैं। उसे इस क्रम में रखा जा सकता है :

संतकाव्य

रामानंद ने उत्तर भारत में भक्ति-धारा के प्रवाह को विशेष बल दिया। इनके शिष्य निर्गुणोपासक भी थे और सगुणोपासक भी। निर्गुण की उपासना रीतिकाल में अनेक मतों और पंथों की गद्दियों में प्रचलित थी किन्तु भावना की गहराई की अपेक्षा युग के प्रभाव से उसमें प्रदर्शन और आडंबर अधिक हो गया था। **यारी साहब** या **यार मुहम्मद** ने सन् 1700 ई. के आसपास हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थापित करते हुए योग, अध्यात्म की बातों का प्रचार किया। जीवात्मा परमात्मा के विरह-मिलन के प्रसंग में रहस्यात्मक प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इन पर सूफियों का भी प्रभाव लक्षित होता है। दूसरे संत बिहार के **दरिया साहब** थे जिनकी शिष्य परंपरा काफी लंबी थी। इन्होंने बीस ग्रंथों की रचना की। '**दरियासागर**' में इन ग्रंथों का संग्रह किया गया। **जगजीवनदास** दादू दयाल की शिष्य परंपरा में थे। इनका जन्म 1670 ई. में माना जाता है और मृत्यु 1761 ई.में। इनकी भाषा ब्रज-अवधी मिश्रित है। **पलटू साहब** ने चमत्कारपूर्ण शैली में जीव-ब्रह्म की व्याख्या की है। हिन्दी के अनेक छंदों का इन्होंने प्रयोग किया है। **चरनदास** एक ज्ञानी और विरागी संत थे जिनके बावन सुयोग्य शिष्य थे। इन्होंने विभिन्न विषयों पर इक्कीस पुस्तकों की रचना की, इनके शिष्यों ने चरनदासी संप्रदाय का प्रचार किया। **शिवनारायण** भी अपने संप्रदाय के प्रवर्तक थे। योग, भक्ति और वैराग्य की शिक्षा देने के लिए इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की। इनके साहित्य में रहस्यात्मक भावना पाई जाती है। **तुलसीसाहब** दक्षिण के ब्राह्मण और पूना के युवराज थे। 1760 ई. से 1842 ई. तक इनकी स्थिति मानी जाती है। गुरू तेगबहादुर सिक्खों के नवें गुरू थे। इनकी वाणियाँ '**आदिग्रंथ**' में संकलित है। अक्षर **अनन्य** ने योग-वेदांत पर छह पुस्तकों की रचना की है। इनमें भाव की गंभीरता, विषय की स्पष्टता और भाषाशैली की प्रौढ़ता प्राप्त होती है। संतमत के शेष साधक कवियों में बाबा **चरणीदास, बूला साहब, दया बाई** और **सहजोबाई** भी प्रसिद्ध हैं।

सूफी काव्य

भक्तिकाल में उद्भूत सूफी काव्यधारा रीतिकाल में भी प्रवाहित रही। हिंदी काव्य में इसके दो रूप पाए जाते हैं – एक, शुद्ध सैद्धान्तिक आधार पर निर्मित दूसरा, शुद्ध प्रेमपरक। दोनों रूपों में भारतीय प्रेमकथाओं का आधार लिया गया है, पर पहले रूप में रहस्यात्मकता की प्रधानता अधिक है जबकि दूसरे में सीधे-सीधे प्रेम के महत्त्व और उसके संयोग-वियोग पक्ष की अभिव्यंजना कथानक रूढ़ियों के सहारे की गई है। इस शाखा के कुछ कवियों का परिचय निम्नलिखित है –

कासिमशाह

कासिमशाह के '**हंसजवाहर**' (सन् 1736 ई.) में शहज़ादा हंस और शहज़ादी की काल्पनिक प्रेम-कहानी का वर्णन किया गया है। इस पर जायसी के पद्मावत का पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है। इसकी अवधी ब्रजभाषा मिश्रित है।

नूरमुहम्मद

इन्होंने 'इन्द्रावती (1744 ई.) नामक आख्यानक काव्य की रचना की। जिसमें कलिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेम कहानी का वर्णन किया गया है। ये फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने फारसी में भी कई किताबें लिखी। कासिमशाह की तरह इन्होंने भी शाहे वक्त मुहम्मदशाह की प्रशंसा की है। इनकी दूसरी कृति '**अनुराग बाँसुरी**' (1764 ई.) है। इसमें आध्यात्मिक सिद्धांतों के आधार पर रूपक की कल्पना की गई है। भाषा परिनिष्ठित अवधी है, पर संस्कृत और ब्रजी के प्रयोग भी मिलते हैं। शुक्लजी ने इन्हें सूफी परंपरा का अंतिम कवि माना है।

रीतिकालीन श्रृंगारी काव्य में वर्णित प्रेम को उज्ज्वल और उदात्त बनाने में इन प्रेमाख्यानों का थोड़ा बहुत प्रभाव माना जा सकता है पर भक्तिकालीन प्रेमाख्यान-परंपरा रीतिकाल में आकर संकुचित और स्थूल धरातल पर प्रतिष्ठित हो गई थी।

राम-काव्य

रीतिकाल तक आते-आते रामकाव्य में श्रृंगारी प्रवृत्ति घुलने लगी थी, फलस्वरूप उसका लोकमंगल वाला तत्त्व कमजोर पड़ने लगा था और लोकरंजन की प्रमुखता हो चली थी। इसका प्रथम उन्मेष **सेनापति** के **'कवित्त रत्नाकर'** में देखा जा सकता है। कृष्णभक्ति की माधुर्योपासना ने रामभक्ति को भी प्रभावित किया। इसका स्पष्ट प्रभाव **रामचरणदास** की श्रृंगारी उपासना पर पड़ा जिस परंपरा से क्षुब्ध होकर आचार्य शुक्ल ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में रामकथा की विकृति पर चिंता व्यक्त की है।

गुरू गोविन्द सिंह सिक्खों के दसवें गुरू थे। मूलत: ये शक्ति के उपासक थे पर अपनी **'गोविंद रामायण'** में इन्होंने रामकथा का ओजस्वी और सरस वर्णन किया है। **जानकी रसिकशरण** (1700 ई.) के **'अवधसागर'** में अष्टयाम-प्रसंग का भी वर्णन श्रृंगाररीति के प्रभाव का द्योतक है। **भगवन्तराय खीची** ने **हनुमत्पचीसी** (1760 ई.) में हनुमानजी के संबंध में पच्चीस कबित्तों की रचना की है। **जनकराजकिशोरीशरण** (रचनाकाल सन् 1800 ई.) ने राम भक्ति की रसिकोपासना से संबंधित अनेक काव्यग्रंथों की रचना की है। **नवलसिंह कायस्थ** (सन् 1816-67 ई.) ने ब्रजभाषा में कई रामकाव्यों की रचना की है। **रीवांनरेश विश्वनाथसिंह** रीतिकाल के अंतिम प्रसिद्ध रामभक्त कवि हुए हैं जिन्होंने बत्तीस ग्रंथों की रचना की है। राम का लोकमान्य रूप मर्यादावादी रहा है अत: उस पर रीतिकालीन विलासिता का प्रभाव अधिक न पड़ सका।

कृष्ण काव्य

रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण को अपने काव्य का आलंबन तो बनाया ही था, उसके समानांतर श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन कथा प्रबंधों और मुक्तकों में भी बराबर होता रहा। निंबार्क और गौड़ीय संप्रदायों के प्रभाव से अनेक भक्त कवियों ने युगलोपासनापरक काव्यों की रचना की। इस वर्ग के प्रबंधकारों में **गुमान मिश्र, ब्रजवासीदास, मंचित** आदि प्रमुख हैं। **गुमान मिश्र** ने **'कृष्णचंद्रिका'** (1781 ई.) नामक प्रबंधकाव्य में सरल शैली में कृष्ण कथा कही है। **ब्रजवासीदास** ने **'ब्रजविलास'** (1770 ई.) में सूरसागर के आधार पर दोहा चौपाई शैली में कृष्णकथा की रचना की। **कवि मंचित** ने सन् 1779 के आसपास **सुरभीदानलीला** और कृष्णायन नामक दो प्रबंधों की रचना की थी। **कृष्णायन** तुलसीदास के रामचरितमानस की दोहा चौपाई शैली में ब्रजभाषा में रची गई है।

मुक्तक शैली में कृष्णभक्तिकाव्य की रचना करने वालों में सखी संप्रदाय के **भक्तवर नागरीदास** का स्थान मुख्य है। ये कृष्णगढ़ के राजा थे पर विरक्तभाव से वृंदावन में रहने लगे थे। सन् 1723-62 ई. में इन्होंने कई काव्यों की रचना की। इन पर कहीं-कहीं सूफ़ी और फारसीकाव्य का भी प्रभाव लक्षित होता है। **अलबेली अली** की कविता सूरदास के समान मधुर और ललित है। **चाचा हितवृंदावनदास, भगवत रसिक** आदि युगलोपासक भक्तों की रचनाएँ इसी वर्ग में ली जा सकती हैं।

11.5.3 नीतिकाव्य

रीतिकालीन काव्य में भक्ति, प्रशस्ति और नीति-वैराग्य परक उक्तियाँ दो रूपों में प्राप्त होती हैं एक तो लक्षणग्रंथों में उदाहरण स्वरूप निबद्ध की गईं, दूसरी स्वतंत्र रूप से। रीति के बंधे परिवेश से निकलकर जीवनानुभवों को व्यक्त कर अपने को ताज़गी देने के लिए ऐसी रचनाएँ रीतिबद्ध कवियों के ग्रंथों में भी मिलती हैं किन्तु स्वतंत्ररूप से जीवन-जगत् के यथार्थ रूप को प्रकट करने वाले छंदों की रचनाएँ नीतिकाव्य के अंतर्गत ही मिलती है। विद्वानों का ऐसा विचार है कि भक्ति यदि इन कवियों के आकुल अंतर के लिए शरणभूमि थी, तो नीति संघर्षमय दरबारी जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न मानसिक द्वंद्व के विरेचन के परिणाम स्वरूप शांति का आधार थी। इसीलिए आत्मोपदेश और अन्योक्तिपरक छंदों में इनके

वैयक्तिक अनुभवों की छाप प्रायः देखने को मिलती है। इन छंदों में पूर्व पंरपरा का पालन तो है ही साथ ही अपने परिवेश से प्रेरित जीवन के उत्थान-पतन और आशा-निराशा का चित्रण भी पाया जाता है।

संस्कृत में **विदुर, चाणक्य, भर्तृहरि** आदि, प्राकृत में **गाहासत्तसई** और **वज्जालग्ग** तथा **अपभ्रंश** में **पाहुड़दोहा, उपदेशरसायन** और **प्राकृत पैंगलम्** के छंदों में नीतिपरक उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। हिंदी के भक्तिकाल में भी **कबीर, तुलसीदास, नरहरि, रहीम** आदि ने जीवनयात्रा को सफल बनाने वाली बातें सूक्तिरूप में कही हैं। रीतिकाल में इसी परंपरा का विस्तार पाया जाता है। वृंद (1643-1723 ई.) ने **'दृष्टांत सतसई'** या **वृंदसतसई** की रचना की थी। इनमें सद्गुण-दुर्गुण आदि विषयों के दोहों का संग्रह है। **गिरिधर** ने सामाजिक और पारिवारिक संबंधों पर नैतिक दृष्टि से **कुंडलियों** की रचना की है। इस वर्ग के अंतिम रीतिकालीन कवि **दीनदयाल गिरि** (सन् 1822-55 ई. काव्य-काल) ने भी गिरधर की तरह विविध विषयों पर गुण-दोषों की दृष्टि से विचार किया है इनकी **अन्योक्ति कल्पद्रुम, 'अन्योक्तिमाला'** और **'दृष्टांततरंगिणी'** प्रसिद्ध हैं। इसमें मौलिकता की अपेक्षा परंपरा पालन अधिक है। आचार्य शुक्ल ने कोरे नीति-कथन को सूक्ति कहा है, किन्तु सब सूक्तिकार ही नहीं हैं। इन सूक्तियों में सरस उदाहरणों के द्वारा रोचकता और काव्यात्मकता भी उत्पन्न की गई है। नीतिकाव्य में लोकजीवन के अनुभवों को प्रस्तावित किया गया है। **'वृंद सतसई'** का यह दोहा भले मनुष्य की पहचान को व्यंजित करता है। सही और गलत की पहचान परिस्थितियों के आधार पर ही होती है। अपनी बात की पुष्टि कवि ने एक उदाहरण देते हुए की है कि बसंत ऋतु में बोलने के कारण ही कौए और कोयल की पहचान होती है।

> फीकी पै नीके लगै, कहिए समय विचारि।
> सबकौ मन हरषित करै, ज्यौं बिवाह में गारि।
> भले बुरे सब एक सम, जो लौं बोलत नाहिं।
> जान परत हैं काग पिक ऋतु बसंत के माहिं।

11.5.4 वैराग्य-तत्त्वज्ञानपरक काव्य

रीतिकाल में वैराग्य और तत्त्वज्ञान को भी महत्त्व दिया गया था क्योंकि यह अतिशय शृंगरिकता का मनोवैज्ञानिक परिणाम था। नीतिकाव्य लिखने वाले कवियों ने सांसारिक प्राणियों को प्रबोधने के लिए नीति कथन के साथ ही अध्यात्मकथन भी किया है। ज्ञान-वैराग्य की उक्तियाँ प्राचीनकाल से ही प्राप्त होती हैं। जीवन की क्षणभंगुरता, संसार की असारता, मोंह-माया के बंधन से मुक्ति आदि विषयों को अनेक कवियों ने रोचक शैली में प्रस्तुत किया है।

इस इकाई में हमने रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त के साथ-साथ रीति-इतर प्रवृत्तियों का भी संकेत किया है। इन इतर प्रवृत्तियें में काव्य परंपरा से प्राप्त भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, नीति और वीर प्रशस्ति के काव्य की गणना की गई है। इन सभी काव्य प्रवृत्तियों में रीतिकालीन परिवेश का प्रभाव पाया जाता है। अतः सभी प्रकार के काव्यों में उदात्त भावों और मौलिकता के स्थान पर रूढ़िग्रस्तता और चमत्कार प्रदर्शन की प्रमुखता दिखाई पड़ती है। काव्यरूप की दृष्टि से रीतिकालीन कविता **मुक्तक प्रधान** है। मुक्तकों में जिस प्रकार भक्ति, वीर, नीति-वैराग्य आदि काव्यों की सुदीर्घ परंपरा प्राप्त होती है, उसी की अगली कड़ी रीतिकालीन मुक्तकों में भी मिलती है।

11.6 रीतिकालीन कवियों का भाषा शिल्प

रीतिकाल की काव्य-भाषा मुख्यरूप से ब्रजभाषा थी। कुछ कवियों ने अवधी को भी अपनाया। ब्रजभाषा उस मध्यदेश की भाषा थी जो भारत का हृदयस्थल था। यहीं शौरसेनी अपभ्रंश से इस भाषा का विकास हुआ और हिंदी साहित्य के मध्यकाल की साहित्यिक भाषा के रूप में दूर-दूर तक फैल गई। बंगाल के पश्चिमी किनारे से पंजाब और गुजरात के पूर्वी किनारे तक इसका प्रसार था। इसकी विस्तृत सीमा में राजस्थानी, पंजाबी, बुंदेलखंडी और पूर्वी क्षेत्रों की शब्द-संपदा समाहित हो गई। षड्भाषा परंपरा में इसमें खड़ीबोली (उर्दू) अरबी-फारसी और तुर्की के भी शब्द ब्रजी के रंग में रंग कर प्रयुक्त होने लगे। मध्यदेश की

संस्कृति और भाषा का प्रभाव भी मध्यकालीन हिंदी कविता पर पड़ा। इसी ओर संकेत करते हुए **आचार्य भिखारीदास** ने कहा है,

> तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
> इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।।

इस विविधता का कारण है भाषा का क्षेत्र-विस्तार। इसकी परंपरा सूरदास के पूर्व भी सिद्ध हो चुकी है। 14 वीं शती तक इसका रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका था। **कृपाराम** की **हिततरंगिणी** के पूर्व भी अनेक छंदों में काव्य-निरूपण होता रहा होगा ऐसा डॉ.नगेन्द्र का भी विश्वास है। लगभग छह सौ वर्षों तक काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा का प्रयोग सैकड़ों कवियों के द्वारा किया गया, अत: उसमें विविधता और व्याकरण संबंधी शिथिलता का होना अवश्यंभावी था। आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन कवियों की भाषा के बारे में लिखा है- "भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी।" ऐसा नहीं हुआ जिसके परिणाम स्वरूप च्युत संस्कृति दोष, वाक्य दोष, लिंग दोष आदि का निराकरण न हो सका और शब्दरूपों में एकरूपता न आ पाई। शुक्लजी ने अरबी-फारसी के शब्दों का ब्रजभाषा में ग्रहण अनुचित नहीं माना, वह तो ऐतिहासिक प्रभाव से होना ही था किन्तु उसके विकृत और अतिशय प्रयोग को अनुचित ठहराया गया है। कहीं-कहीं अप्रचलित देशज शब्दों के प्रयोग से भी दुरूहता आ गई है। फिर भी घनानंद, बिहारी और पद्माकर के साहित्य में ब्रजभाषा का शुद्ध प्रयोग मिलता है।

भाषा की लाक्षणिकता का प्रयोग घनानंद की कविता की अपनी विशेषता ही बन गई। बिहारी, देव, भिखारीदास आदि में भी व्यंजना वृत्ति का विशेष प्रयोग पाया जाता है। बिहारी के छोटे से दोहे में अनेक अर्थ-छवियाँ उसकी ध्वन्यात्मकता के ही कारण समाहित हो सकी हैं। रीतिकवियों ने अपने काव्य को बिम्बात्मकता और चित्रात्मकता से भी सजाया है। यद्यपि इस क्षेत्र में भी घन आनंद सबसे आगे हैं पर मतिराम, देव, बिहारी, पद्माकर आदि भी उनसे बहुत पीछे नहीं हैं। इन कवियों ने फारसी के शब्दों को ब्रजी के अनुकूल ढाल कर ही ग्रहण किया है।

> कान सुनि आगम सुजान प्रान प्रीतम को
> आति सखियान सजी संदरी के आसपास।
> कहै पदमाकर सु पन्नन के हौज हरे
> ललित लबालब भरे है जल बास बास।
> गूँदि गेंदे गुल गज गौहरनि गंज गुल
> गुपत गुलाबी गुल गजरे गुलाब पास।
> खासे खस बीजन सुपौन पौन खाने खुले।
> खस के खजाने खसखाने खूब खास खास।।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि रीतिकालीन कवियों ने ब्रजभाषा को व्याकरण सम्मत और एक सुस्थिर रूप नहीं प्रदान किया फिर भी उसकी शब्द-संपदा में अपूतपूर्व वृद्धि हुई। उन्होंने भाषा को शृंगार रसानुकूल माधुर्यगुण से ही संपन्न नहीं बनाया बल्कि उसमें ओजगुण की अभिव्यक्ति क्षमता भी पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न कर दी। मुहावरों और लोकोक्तियों के व्यंजक प्रयोगों द्वारा भाषा में प्रवाह और जीवंतता का संचार किया। चाक्षुष बिम्बों की अधिकता के द्वारा चित्रात्मकता की कला और संवेदनात्मक बिम्बों के द्वारा भावानुभूति की गहनता से अभिव्यंजना के नए क्षितिज का स्पर्श किया। भाषा की सुघड़ता और तरलता का जैसा विकास रीतिकालीन ब्रजभाषा में प्राप्त होता है वह अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है।

11.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ गये होंगे कि रीतिकालीन कविता किस सामाजिक परिस्थिति के बीच पनपी थी तथा उसका विस्तार किन-किन धाराओं के बीच हुआ। रीतिकाल की विभिन्न धाराओं के बीच के अंतर को भी आप समझ गए होंगे। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कविता की आंतरिक विशेषता का अध्ययन भी आपने इस इकाई में किया। रीतिकाल में शृंगारिक रचनाओं के साथ-साथ शृंगारेतर साहित्य की भी रचना हो रही थी। वीरता, धर्म, नीति और वैराग्य पर भी कविताएँ लिखी जा रही थीं, जिनका इस युग में विशेष महत्व है।

11.8 अभ्यास प्रश्न

1. रीतिकालीन रीतिबद्ध काव्य की विशेषताओं की चर्चा कीजिए। यह रीतिमुक्त काव्य से किस प्रकार भिन्न थी?
2. रीतिकालीन रीतिमुक्त काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. रीतिकालीन काव्य की किन-किन विशेषताओं का प्रतिफलन बिहारी की सतसई में प्राप्त होता है? विवेचन कीजिए।
4. रीतिकालीन भक्ति-भावना के स्वरूप का परिचय दीजिए।
5. रीतिकालीन नीतिकाव्य की विशेषताओं का परिचय दीजिए।
6. रीतिकालीन कवियों की भाषा-शैली की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
7. रीतिकालीन रीतिबद्ध काव्य धारा के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।
8. रीतिकालीन रीतिसिद्ध काव्य धारा की विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
9. रीतिकालीन शृंगारेतर काव्य प्रवृत्तियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास आ. रामचन्द्र शुक्ल
2. केशव का आचार्यत्व: डॉ. विजयपाल सिंह
3. देव और उनकी कविता डॉ. नगेन्द्र
4. बिहारी: डॉ. बच्चन सिंह, साहित्य अकादमी
5. मुक्तक काव्य परंपरा और बिहारी: डॉ. रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रकाशन,1960
6. रीतिकाव्य : डॉ. जगदीश गुप्त, वसुमती, इलाहाबाद,1968